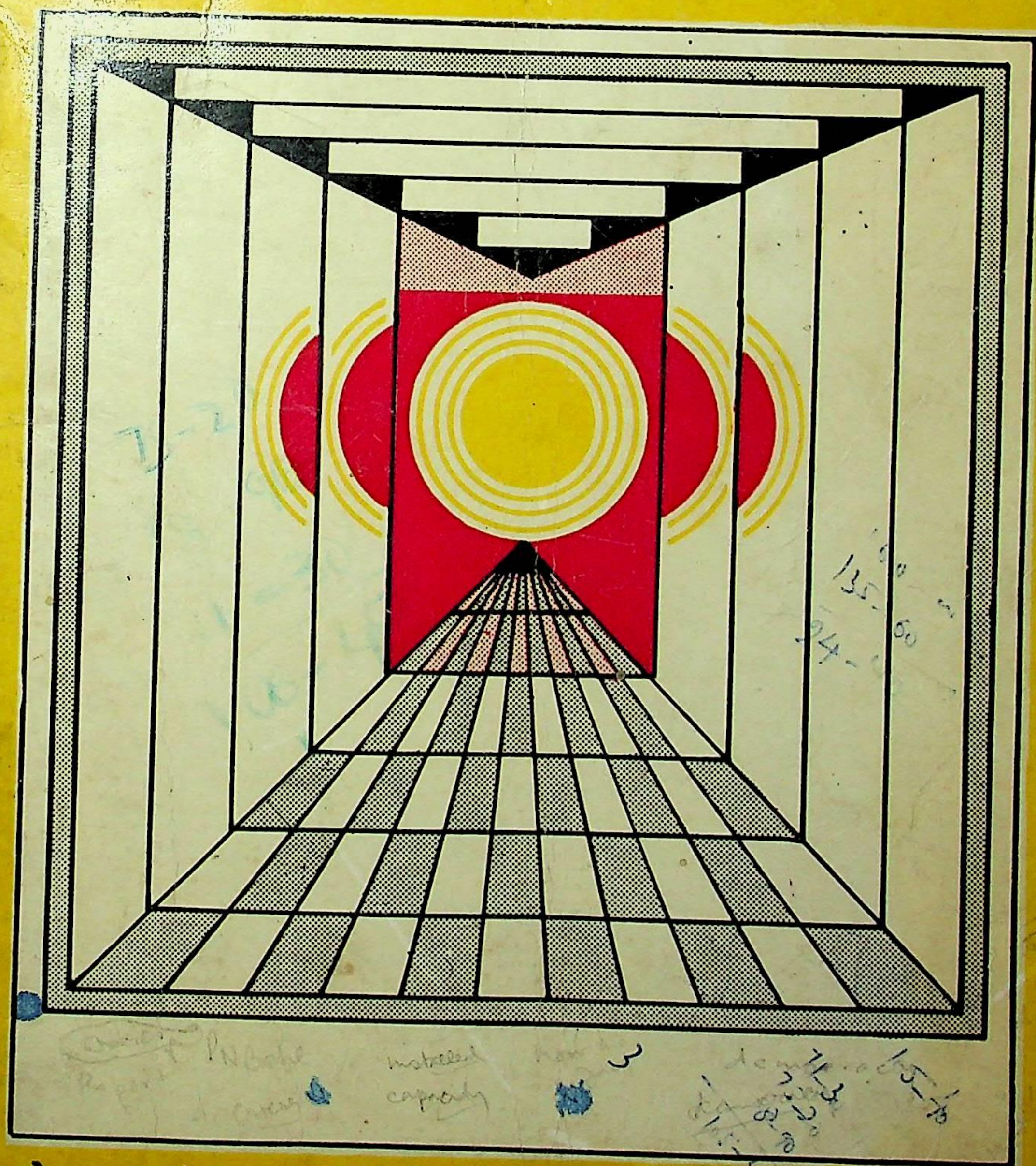
शीराज़ा हिन्दी



जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू





मार्च १९७५

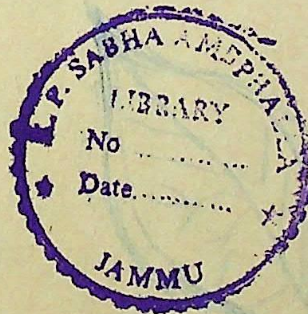
शीराज़ा

हिन्दी

●

प्रमुख सम्पादक :

मुहम्मद यूसुफ टेंग



●

सम्पादक :

रमेश मेहता

●

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

वर्ष : १०] मार्च १९७५ [अंक : ४

मार्च १९७६ में प्रकाशित

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

रमेश मेहता

सम्पादक :

शीराज़ा : हिन्दी

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कलचर एण्ड लैंग्वेजिज़,

नहर मार्ग, जम्मू

फोन नं० : ५०४०

वार्षिक शुल्क : आठ रुपये प्रत्यंक : दो रुपये

सचिव द्वारा जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट,

कलचर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू के लिए प्रकाशित

तथा अमर आर्ट प्रेस, मोती बाज़ार, जम्मू में मुद्रित

अपनी बात

हिन्दी की विशिष्ट पत्रिका 'सरस्वती', जो एक लम्बे समय से अपनी अस्मिता बनाए रखने के लिए जूझ रही थी, अन्ततः धनाभाव के कारण दम तोड़ गई। ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण इस पत्रिका के इस प्रकार एकाएक लड़खड़ाकर बैठ जाने से हिन्दी पत्रकारिता को गहरा आघात लगा है। परिणामस्वरूप अब वह समय आ गया है जब इस व्यवसाय से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति, वह चाहे सम्पादक हो, प्रकाशक हो, लेखक हो अथवा पाठक, सबको 'सरस्वती' ही नहीं हिन्दी की अनेकानेक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के असामयिक निधन के कारणों का विश्लेषण करते हुए अपनी जिम्मेदारी अनुभव करते हुए उचित निर्णय लेने के लिए बाध्य होना होगा जिससे साहित्यिक पत्रिकाओं को असमय ही मृत्यु का ग्रास बनने से बचाए जाने के प्रयत्न किए जा सकें। क्या हम अपने को इसके लिए तैयार पाते हैं?



शीराज़ा के इस अंक को प्रारम्भिक योजना के अनुसार दिसम्बर '७५ में प्रकाशित होना था किन्तु परिस्थितियां कुछ ऐसी बनीं कि अब इसे मार्च १९७५ का अंक कह कर निकालना पड़ रहा है। इस सारे सन्दर्भ में प्रसन्नता की अगर कोई बात हो सकती है तो वह यह कि इस अंक के बाद अब सभी अंक अपने समय पर नियमित एवं निश्चित रूप से प्रकाशित हो सकेंगे, इसका विश्वास हो चला है। अतएव इस संतोष के होते हम आशा करते हैं कि हमारे सुधी पाठक एवं इस अंक के लेखक इस अयाचित परिवर्तन के लिए हमें क्षमा करेंगे।

हमारे महत्त्वपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

	पुस्तक	सम्पादक / अनुवादक	मूल्य
१.	डोगरी लोक कथाएं	सम्पादक : श्याम लाल शर्मा	३–७५ रुपये
२.	कश्मीरी लोक कथाएं	सम्पादक : श्याम लाल शर्मा	३–७५ रुपये
३.	थिरके पत्ता पीपल का डोगरी लोकगीतों का पद्यमय हिन्दी अनुवाद	संकलन एवं अनुवाद : डॉ० ओम प्रकाश गुप्त	९–०० रुपये
४.	वाणी वितस्ता की कश्मीरी लोकगीतों का पद्यमय हिन्दी अनुवाद	संकलन एवं अनुवाद : पृथ्वी नाथ 'मधुप'	६–५२ रुपये
५.	कहा था ऋषि ने शेख नूरुद्दीन वली के कश्मीरी पद्यों का हिन्दी अनुवाद	अनुवादक : शशि शेखर तोषखानी	४–५० रुपये
६.	प्रतिनिधि कश्मीरी कविताएं	संकलन एवं अनुवाद : डॉ० मुहम्मद अयूब खां 'प्रेमी'	[illegible]–२५ रुपये
७	प्रतिनिधि कहानियां : डोगरी	सम्पादक : रमेश मेहता	६–२५ रुपये
८.	प्रतिनिधि कहानियां : कश्मीरी	सम्पादक : रमेश मेहता	६–२५ रुपये
९.	सहस्रमुखी स्वर्गीय बंसीलाल सूरी की कविताओं का संग्रह	सम्पादक : रमेश मेहता	११–५० रुपये
१०.	हमारा साहित्य १९७२	सम्पादक : रमेश मेहता	१२–३० रुपये
११.	सुय्या	अली मुहम्मद लोन	५–२५ रुपये

प्राप्ति स्थान

जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़

नहर मार्ग, जम्मू

शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : १०] मार्च १९७५ [अंक : ४

अनुक्रमणिका

लेख



पाश्चात्य साहित्य का भारतीय साहित्य पर प्रभाव

अजित कुमार

आरम्भ में ही बता देना ठीक होगा कि एक साहित्य पर दूसरे साहित्य के प्रभाव को मैं बुरा नहीं मानता, बशर्ते कि वह प्रभाव हो, असर हो; सीधा-साफ, चोरी न हो। लेकिन मैं यह भी जानता हूं कि इस युग में जिस तरह एक साहित्य को दूसरे साहित्य से अछूता रख पाना कठिन है, उसी तरह प्रभाव, साधर्म्य, साम्य, अनुकरण, नकल या चोरी के बीच बिलकुल सुनिश्चित अन्तर कर पाना भी सरल नहीं। इसलिए 'प्रभाव' की बिलकुल ठोस या पक्की परिभाषा करने की कोशिश में ही सारी शक्ति गंवा देने से क्या फायदा? बस, यों समझ लीजिए कि जब एक का 'भाव' दूसरे को प्रकाशित करने लगे, या फिर, एक की 'प्रभा' दूसरे में विशेष रूप से झलक उठे तो उसे 'प्रभाव' कह सकते हैं।

कुछ लोग मानते हैं कि मानसिक रूप से हमारा देश अब भी गुलाम है। इन्हीं में से कुछ की कामना यह भी जान पड़ती है कि काश! गोरी जातियां हिन्दुस्तान को उबारने के लिए आज मौजूद होतीं। ऐसे लोगों का ज़िक्र मैं आगे करूंगा। फिलहाल, यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस अंग्रेज जाति के साम्राज्य में सूरज कभी डूबता ही न था, उसकी प्रभा अथवा प्रभाव से भारतवासी दूर न रह सके थे। यही नहीं, एशिया-अफ्रीका के अभावग्रस्त, अनपढ़, सीधे-सादे लोगों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता और मान-संपदा से भर देने का जो दायित्व गोरी जातियों ने अपने कंधों पर उठाया था, उसे बहुत अंशों में भारतवासियों ने झेला भी था। यानी वे बहुत दूर तक पाश्चात्य भावों-विचारों, जीवन-मन, तथा कला और साहित्य से प्रभावित हुए थे। हमारी वेशभूषा, बोलचाल, उठने-बैठने पर ही नहीं, आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं और आदर्शों-मान्यताओं पर भी पश्चिम का इतना गहरा असर पड़ा था कि आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी हम उससे मुक्त नहीं हो पाए हैं। उलटे शायद और भी घिर गए हैं क्योंकि ज्ञान-विज्ञान, मशीनें, लोकतंत्र,

राष्ट्रीयता, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, पूंजीवाद-समाजवाद, आधुनिकता आदि सभी कुछ भारत को पश्चिम से ही प्राप्त हुआ है। हम चाहें तो भी उसे उखाड़ कर फेंक नहीं सकते।

ऐसी दशा में, भारतीय साहित्य पश्चिमी साहित्य से अछूता क्योंकर रह सकता था। अठारहवीं शताब्दी से ही अर्थात् अंग्रेज़ी भाषा और साहित्य के भारत में प्रवेश-काल में ही यह प्रभाव पड़ना शुरू हो गया था। यह जरूर है कि शुरू-शुरू में योरपीय विद्वानों ने हमारी भाषा-संस्कृति, धर्म-दर्शन आदि में रुचि लेकर भारतीय जीवन के विविध पक्षों का अध्ययन किया था और ईसाई धर्मप्रचारकों ने लोकचित्त को छूने-समझने की कोशिश की थी। पर, भारत में पश्चिमी साम्राज्य की जड़ जैसे-जैसे मजबूत होती गई, वैसे-वैसे क्रम उलटता गया और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से भारतीय साहित्य पाश्चात्य साहित्य के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होने लगा।

स्पष्ट है कि यह प्रभाव अधिकांशत: अंग्रेज़ी साहित्य का था, या फिर, अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से हम तक पहुंचा था। उतना ही स्पष्ट यह भी है कि देश के जिन भागों पर योरपीयों का प्रभुत्व गहरा या अधिक रहा, वहां की भाषाएं पश्चिमी साहित्य की ओर विशेष उन्मुख हुईं। उदाहरण के लिए, बंगला और दक्षिण भारतीय भाषाओं का उल्लेख किया जा सकता है। यों तो हमारी सब भाषाएं पश्चिमी साहित्य के संपर्क में आईं, पर यह प्रभाव समान रूप से सब पर न पड़ा था। या तो वे भाषाएं अधिक प्रभावित हुईं, जिनकी अपनी लंबी साहित्यिक परंपरा थी, या फिर वे भाषाएं, जिनके पास 'अपना साहित्य' कहने के लिए विशेष कुछ न था। इस तरह समृद्ध भाषाओं ने तो पश्चिमी साहित्य से प्रेरणा लेकर अपने को और भी समृद्ध कर लिया, जबकि अन्य भाषाएं पश्चिमी साहित्य की बैसाखी लेकर खड़ी होने की कोशिश में लगीं। मतलब यह कि प्रभाव तो सब पर पड़ा, पर प्रभाव की प्रकृति में काफी अन्तर था। हिन्दी और बंगला आदि साहित्यों ने पश्चिमी साहित्य के संपर्क का लाभ उठाकर, उसे आत्मसात कर, आधुनिक युग के आरंभ में ही अपनी नींवें मजबूत बना ली थीं; लेकिन असमिया-कन्नड़ जैसी कुछ अन्य भारतीय भाषाओं को पश्चिमी साहित्य के निर्जीव बोझ से उबरने में काफी वक्त लग गया।

यह एक रोचक, लेकिन लंबा और बेहद उलझा हुआ इतिहास है। साहित्यिक प्रभाव अधिकतर अत्यंत सूक्ष्म और तरल होते हैं। स्थूल धरातल पर उन्हें, बहुधा, न पकड़ा जा सकता है, न समझा ही। फिर भी, अनुवादों, साहित्य-धाराओं, प्रवृत्तियों, आन्दोलनों या कलात्मक गुणों के आधार पर थोड़ी-बहुत छानबीन जरूर की जा सकती है।

ऊपर-ऊपर से देखें तो पता चलता है कि भारतीय साहित्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा पश्चिम के कुछ कवियों का, जिनमें शेक्सपियर, शेली-वर्ड्सवर्थ-कीट्स आदि रोमांटिक कवि, और इलियट-येट्स-लारेंस प्रमुख थे। जिस काव्यान्दोलन ने लगभग प्रत्येक भारतीय

साहित्य को प्रेरित किया, वह था—'रोमांटिसिज़्म' और उसके बाद प्रगतिवाद-यथार्थवाद यानी 'सोशल रीयलिज़्म'। योरपीय 'इंप्रेशनिज़्म' या प्रभाववाद की झलक भी हमारे साहित्यों में दिखी है।

यदि समस्त भारतीय साहित्यों में परम प्रिय किसी एक पश्चिमी लेखक का नाम लिया जाये, तो निस्संदेह वह शेक्सपियर का ही होगा। अन्य नाटककारों में साफोक्लीज, इब्सन, शा, गाल्सवर्दी, पिरैंडेलो और ब्रेख्त उल्लेखनीय हैं। उपन्यासकारों में डिकेन्स, टालस्टाय, दास्तोवस्की, गोर्की, पास्टरनाक तथा कहानीकारों में मोपासा, चेखव, ओ० हेनरी विशिष्ट हैं। गद्यकारों में जॉनसन, लैम्ब, स्विफ़्ट का और आलोचकों में प्लेटो, अरस्तू, लोंजाइनस, कॉलरिज, ऑर्नल्ड, लेविस आदि का नाम लिया जा सकता है।

इधर कुछ वर्षों से अस्तित्ववादी लेखकों की ओर भारतीय लेखक उन्मुख हुए हैं और काफ़्का, काम्यू, सार्त्र आदि की रचनाएं विशेष रूप से पढ़ी जाने लगी हैं। भावबोध के स्तर पर पश्चिमी साहित्य से हमने असंख्य प्रभाव लिए हैं, जिनमें से कुछ को कल्पनाशीलता, कलावाद और सौंदर्यबोध के इर्दगिर्द पहचाना जा सकता है। वहां के तर्क-बुद्धिवाद का असर भी काफी गहरा पड़ा है, जिसका एक लक्षण भौतिकता में दिखाई देता है। शायद इन दोनों परस्पर-विरोधी प्रभावों के टकराव का परिणाम यह हुआ कि आधुनिक भारतीय साहित्यों में कुंठा, संत्रास, अजनबीपन और अर्थहीनता के स्वर तीव्र होने लगे हैं। तथापि स्वस्थ जनवादी चेतना पुष्ट होती गई है, क्योंकि भारतीय स्थितियों ने इस योरोपीय प्रेरणा को पनपने का प्रचुर अवसर दिया।

लेकिन जैसा मैंने पहले कहा, यह सिर्फ़ हलका-सा खाका भर है। इसमें तमाम रंग भरने होंगे तभी पूरी तस्वीर तैयार हो सकेगी। उसमें भी कितने ही रंग छिपे या बिलकुल गायब होंगे। बहुत जरूरी है कि इस तस्वीर को, इसके तमाम रंगों समेत हम समझने और पसंद करने की कोशिश करें।

आजादी मिलने के बाद ही यह मुमकिन भी था, क्योंकि तभी हमने पश्चिमी साहित्य को अपने लिए 'सजा' या 'कृपा' से भिन्न, बिलकुल सहज रूप में पाया था। उसे जबर्दस्ती ओढ़ना या उतारना—दोनों ही मानसिक गुलामियां हैं, जिनसे छूट पाना और जिन्हें समझ पाना आज हमारे लिए संभव है।

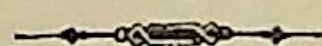
उन्नीसवीं सदी में, भारतीय पुनर्जागरण के युग में पश्चिमी संपर्क की दो प्रतिक्रियाएं हमारे देश में दिखाई दी थीं। एक दृष्टिकोण था उन लोगों का, जो पश्चिमी शिक्षा, ज्ञान और साहित्य का अधिक-से-अधिक लाभ उठाकर, देश को आगे ले जाना चाहते थे। वे समझते थे कि हमारी समृद्धि और प्रगति इसी रास्ते पर चलकर हो सकती है। दूसरा

दृष्टिकोण था—उन लोगों का, जो भारतीय संस्कृति, वेद-पुराण, उपनिषद्, धर्म-दर्शन पर विशेष बल देते थे और पश्चिमी अंधानुकरण के विरोधी थे। पश्चिमी साहित्य के प्रति इनके मन में सहज अविश्वास था। जातीयता और परंपरा की रक्षा के लिए वे अतीत की ओर उन्मुख होना चाहते थे, न कि विदेश की ओर।

आज बीसवीं सदी के अंतिम चरण में, राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं और दुनिया की शक्ल भी पहले जैसी नहीं रह गई है। इसलिए, वे पुरानी बहसें आज बेकार-सी हो गई हैं। उम्मीद की जा सकती है कि राष्ट्र की समस्याओं का हल गोरी जातियों के साम्राज्यवाद में देखने वालों की, और प्रत्येक विदेशी वस्तु पर अविश्वास करने वालों की भी आंखें खुल गई होंगी। वे देख रहे होंगे कि आज भारतीय साहित्य भले ही विदेशी साहित्य के कहीं अधिक—पहले से बहुत अधिक—घनिष्ठ संपर्क में है, पर यह कोई डरने या घबराने की बात नहीं है।

हमारा साहित्य हमारा अपना साहित्य ही रहेगा, भले ही वह अंग्रेज़ी में लिखा गया 'भारतांग्ल' साहित्य क्यों न हो। जो जड़ें ज़मीन के भीतर होती हैं, उन्हें बाहर की धूप, हवा, बरखा और भी ज़्यादा मजबूत बना देती है। इस तथ्य को समझने का मतलब है, दरअसल, भारतीय साहित्य के मूल में स्थित समन्वय की भावना को समझ लेना।

आशा है कि भविष्य में हम अंग्रेज़ी के अतिरिक्त अन्य पश्चिमी तथा पूर्वीय भाषाओं के भी संपर्क में आएंगे और वह साहित्य रच सकेंगे जो सार्वजनीन होते हुए भी, व्यापक और गहरे अर्थों में भारतीय रहेगा।



उस शिला पर

कुमार शिव



जिस शिला पर
हुए थे खड़े सांझ को
और खाली हथेली में लेकर हवा
सौंप दी थी लहर को पनीली नज़र
उस शिला पर अभी शेष है ज़िन्दगी
उस शिला पर प्रणय गीत गाती नदी.

पहले पीपल से उड़ती हैं चिड़ियां कई
टूट जाते हैं पत्ते हरे रंग के
फिर हवा डालियों को हिलाती हुई
छेड़ जाती है आकर वसन अधखुले
नाव हिलती है बनकर अधर ताल के
मुग्ध होते हैं सूरजमुखी धूप में
रोज सूरज निकलता उसी रूप में
जैसा देखा था हमने शिला से कभी.

दूरियों ने हमें खोखला कर दिया
यह हवा को अभी भेद मालुम नहीं
हादसे कुछ यहां इस तरह से घटे
दर्द फिर भी अधर पर बना चांदनी
फूल पीले हुए क्यों अमलतास के ?
आओ आकाश को ब्लेड से काट दें
रंग को…देश की दूरियां पाट दें
पोंछ दें शब्द इतिहास से 'त्रासदी'.

जिस शिला पर
हुए थे खड़े सांझ को
उस शिला पर अभी शेष है ज़िन्दगी.



छायावादी काव्य की—
प्रगतिशील चेतना

डॉ० रामदरश मिश्र

छायावादी कविता में प्रगतिशील चेतना की उपस्थिति दुहरे अर्थ में खोजी जा सकती है। एक तो ठेठ प्रगतिशील अर्थ में दूसरे अपने समय की नयी चेतना की पहचान के रूप में। ठेठ प्रगतिशील (अर्थात् मार्क्सवादी दृष्टि से प्रभावित) चेतना सन् ३६ के बाद की छायावादी कविता में लक्षित होती है। ३६ के बाद की छायावादी कविता को छायावादी कविता माना भी जाय या नहीं, यह भी एक प्रश्न है। १९३६ में पंत का 'युगान्त' प्रकाशित हुआ जिसमें छायावादी युग के अन्त तथा एक नये युग के प्रारंभ का संकेत मिलता है। इसी क्रम में उनकी 'युगवाणी' (सन् १९३९) और ग्राम्या (१९४०) काव्यकृतियां आईं। सन् ४० के बाद आने वाली निराला की काव्यकृतियों—'कुकुरमुत्ता' (१९४२) 'अणिमा' (१९४३) 'बेला' (१९४३) 'नये पत्ते' (१९४६) में भी एक नये प्रकार के स्वर की आहट मिलती है। वैसे छायावाद की कालावधि सन् १९३५ तक ही मानी गई है किन्तु ३५ के बाद को नयी आहटों के बावजूद एक तो उसका छायावादी स्वर काफी दूर तक उपस्थित है और दूसरे आलोचकों ने छायावादी कवियों की इस प्रगति चेतनाशील कविता को उत्तर छायावादी कविता नाम दिया है अर्थात् छायावाद १९३५ के बाद भी वर्तमान है, कुछ बदले हुए रूप में। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सन् १९३५ के पश्चात् छायावाद में प्रगतिवादी चेतना अपने सही रूप में आई। १९३५ के पूर्व के छायावाद में प्रगतिवादी चेतना है किन्तु एक दूसरे अर्थ में—एक उदार या लचीले यानी मानवीय और एक नयी चेतना के अर्थ में किन्तु १९३५ के पश्चात् एक निश्चित अर्थ में प्रगतिवादी चेतना फूटती लक्षित होती है और इसका श्रेय सुमित्रानंदन पंत को देना पड़ेगा। पंत जी छायावाद को अलंकृत संगीत मानकर मार्क्सवादी दर्शन और सामाजिक जीवन-यथार्थ की ओर उन्मुख हुए। १९३६ में प्रकाशित 'युगान्त' में पंत की मार्क्सवादी दृष्टि

और सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति बड़े साफ तौर पर दिखाई पड़ती है। एक ओर 'युगान्त' की 'सृष्टि' कविता है जिसमें पदार्थ में सन्निहित प्रत्यय की अवधारणा को मिट्टी और बीज के बिम्ब से उद्घाटित किया गय है और दूसरी ओर 'बांसों का झुरमुट' कविता है जिसमें श्रमजीवियों का चित्र है—

ये नाम रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग

पंत ने 'युगवाणी' में मार्क्सवादी दर्शन की समझ को और स्पष्ट किया बल्कि उन्होंने मार्क्सवादी दर्शन को जगह-जगह कविता में उजागर किया और साथ ही जन-जीवन के अनेक चित्र अंकित किये। ये चित्र कवि की बदली हुई दृष्टि और परिवर्तित संवेदना दोनों के परिचायक हैं। 'ग्राम्या' में ग्राम जीवन के विविध संदर्भों, रूपों और सवेदनाओं को मूर्त किया गया। एक बूढ़े किसान का चित्र देखिए—

अंधकार की गुहा सरीखा उन आंखों से डरता है मन
भरा दूर तक उनमें दारुण दैन्य-दुख का नीरव रोदन
फट रहा उनसे गहरा आतंक, क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम
डूब कालिमा में उनकी कंपता मन, उनमें मरघट का तम

'ग्राम्या' के बाद पत की काव्य यात्रा प्रगतिवाद से अरविन्दवाद की ओर मुड़ जाती है, जिसमें भौतिक योग क्षेत्र के साथ आध्यात्मिक विकास की चिंता लक्षित होती है। निराला पंत की तरह प्रगतिवादी नहीं हुए। इसका मुख्य कारण यह है कि वे अपनी छायावादी कविताओं में भी ज़मीन से जुड़े रहे और उन्होंने अलग से प्रगतिवाद की ओर उन्मुख होने की आवश्यकता नहीं अनुभव की। १९३५ के बाद प्रगतिवाद के प्रभाव से निराला की कविताओं में क्रमागत लोकोन्मुखता सघन और व्यापक हो गयी किन्तु साथ ही उनकी छायावादी कविताओं का भी क्रम चलता रहा। व्यक्तिगत प्रेमनिवेदन और आराधना के साथ जन-जीवन सम्बन्धी कविताएं चलती रहीं। निराला की कविताओं में प्रगतिवादी स्वर दो रूपों में लक्षित होता है—(१) कवि ने छायावाद से एकदम अलग हट कर प्रगतिशील कविताएं लिखीं। ये कविताएं छन्द, भाषा और भावभूमि सभी दृष्टियों से छायावादी कविता से अलग हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' तथा 'नये पत्ते' की अधिकांश कविताएं ठेठ प्रगतिवादी कविताएं हैं। (२) छायावादी कविता में लक्षित होने वाला लोकोन्मुख स्वर और अधिक सघन और व्यापक हो गया।

पंत और निराला दोनों की कविताएं अपने-अपने ढग से अपनी शक्ति और सीमाओं के साथ उत्तर छायावादी कविता को प्रगतिवादी चेतना से मंडित करती हैं किन्तु यह दौर प्रगतिवाद का ही था। प्रगतिवादी दौर से छायावादी कवियों का प्रभावित होना स्वाभाविक

था किन्तु जैसा पहले कह चुका हूं कि छायावादी कविता में प्रगतिवादी चेतना की उपस्थिति की पहचान १९३५ के बाद की छायावादी कविताओं के माध्यम से नहीं की जा सकती। एक तो यह छायावादी दौर का मान्य समय नहीं है, दूसरे यह समय प्रगतिवादी उठान का है। इस काल के छायावाद में प्रगतिवाद प्रगतिवाद के रूप में ही है। इस निबन्ध का मूल प्रतिपाद्य तो यह देखना है कि व्यक्तिवादी चेतना का काव्य—छायावाद—अपने उत्कर्षकाल में किस प्रकार प्रगतिशील चेतना को अंतर्निहित किये हुए है ? वह प्रगतिशील चेतना क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? यानी परस्पर विरोधी कही जाने वाली व्यक्तिवादी चेतना और प्रगतिशील (सामाजिक) चेतना में साहचर्य कहां है ? किस रूप में है ?

मार्क्सवादी प्रगतिवाद का अपना एक निश्चित स्वरूप है; प्रकृति और मानव समाज की उसकी अपनी निश्चित व्याख्याएं और निष्कर्ष हैं। यथार्थ के स्वरूप की उसकी अपनी एक खास पहचान है और इन सारी व्याख्याओं और बहसों का उद्देश्य है श्रमिक समाज के राज्य की स्थापना जो समतामूलक है।

यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादी प्रगतिवाद एक जीवन दृष्टि है, स्वयं जीवन नहीं। वह समाज में वर्तमान यथार्थ की पहचान करता है, स्वयं में यथार्थ नहीं बन जाता। हां, वह उस यथार्थ की सही पहचान करा कर उसे देखने की दृष्टि बदलता है और दृष्टि बदल कर हमें शोषण के विरुद्ध लड़ने के लिए संघटित और सक्रिय करता है और इस प्रकार वह एक नये समतावादी समाज की रचना में सहायक होता है। किन्तु उसके कुछ ऐसे बिन्दु हैं जिन्हें प्रगतिवादी दृष्टिकोण से न लिखे गये साहित्य में भी खोजा जा सकता है। यानी ये वे बिन्दु हैं जो अलग समयों के साहित्य में उन उन समयों के ऐतिहासिक यथार्थ की सीमा में मानवीय दृष्टिकोण से उभरे हैं, जो उस समय में संभव हो सकने वाले मानवीय या सामाजिक मूल्यों की स्थापना से जुड़े हैं। इसलिए यदि प्रगतिवादी चेतना को हर काल के साहित्य में देखने के लिए कुछ सामान्य मानदंड बनायें तो वे ये होंगे—

१. वह साहित्य पुरानी जड़ व्यवस्था के विरुद्ध उगने वाली नयी सामाजिक व्यवस्था की चेतना की अभिव्यक्ति करता हो और मानवीय धरातल पर, मानव और मानव के बीच स्थित अर्थमूलक, धर्ममूलक, पदमूलक सारे भेद भाव पर प्रहार करता हो और एक मानवीय एकता की स्थापना करता हो।

२. उस साहित्य की दृष्टि धरती की ओर हो अर्थात् वह धरती को छोड़कर आकाश में उड़ने के स्थान पर धरती के जीवन में आस्था रखता हो और उत्पन्न करता हो।

३. वह शोषक वर्ग की चमक दमक से अभिभूत न होकर सामान्य अभिशप्त जीवन की ओर उन्मुख हो उसकी पीड़ा और संघर्ष को उभारता हो।

छायावादी काव्य को सामंतवादी समाज व्यवस्था के विरुद्ध उठने वाली पूंजीवादी व्यवस्था का स्वर कहा गया है। पूंजीवादी व्यवस्था ऐतिहासिक दृष्टि से क्रांतिकारी और प्रगतिशील कदम है। सामंती व्यवस्था से सर्वहारा के अधिनायकत्व तक पहुंचने के लिए पूंजीवाद एक अनिवार्य अवस्था है। पूंजीवाद ने सामंती व्यवस्था की जड़-सामूहिकता, जाति-व्यवस्था, रूढ़-धार्मिकता और रूढ़िबद्ध मान्यताओं पर चोट की। वैयक्तिक स्वाधीनता पूंजीवाद का मुख्य स्वर था। वैयक्तिक स्वाधीनता मूलत: व्यावसायिक और व्यापारिक प्रतियोगिता की भावना लेकर उत्पन्न हुई किन्तु वह जीवन के हर क्षेत्र में–नागरिकता में, सदाचार में, नैतिकता में, साहित्य और राजनीति में फैल गई। इस नवीन दृष्टि और चेतना को लेकर रोमांटिक साहित्य उठ खड़ा हुआ और बड़े ही उन्मेष और शक्ति से जीवन और साहित्य की रूढ़ प्रवृत्तियों को तोड़ने लगा और लोकानुभूति को लेकर नयी सृष्टि करने लगा। काडवैल के शब्दों में पूंजीवाद ने ऐतिहासिक दृष्टि से एक बहुत ही क्रांतिकारी भूमिका अदा की है। उसने निर्भयता के साथ उन अनेक सामंती बंधनों को तोड़ दिया जिन्होंने मनुष्य को उसके प्राकृत वरिष्ठों से बांध रखा था[१]। पूंजीवादी व्यवस्था ने जिस वैयक्तिक स्वाधीनता को जन्म दिया वह रूमानी काव्य का मुख्य स्वर बन गयी। इंगलैंड में पूंजीवादी व्यवस्था का विकास पहले हुआ इसलिए वहां रूमानी काव्य का आन्दोलन पहले शुरू हुआ। भारत में पूंजीवाद का आगमन अंग्रेज़ों के आने के बाद हुआ और वह भी उस तीव्रता और सघनता से नहीं हुआ जिस तीव्रता और सघनता से इंगलैंड में हुआ था। इसलिए छायावाद के रूप में हिन्दी में रूमानी काव्यान्दोलन का आगमन सन् १९२० के आसपास हुआ और पूंजीवाद का विकास सघन रूप में न होने के कारण छायावाद सामंती चेतना से सर्वथा मुक्ति नहीं पा सका। छायावादी कवियों ने सामंतवादी व्यवस्था की रूढ़ियों के दुष्परिणामों का अनुभव और मानवीय धरातल पर मानव मानव को एक समझने की तड़प का अहसास भी किया। अनुभवशील होने के साथ साथ ये कवि चिंतनशील भी थे। ये मनुष्य के सुख-दुख और मानव सभ्यता के सम्बन्ध में चिंतन भी करते थे किन्तु उनकी चिन्तन-दृष्टि वैज्ञानिक नहीं थी। इसलिए इनके निष्कर्ष समसामयिक जीवन के ठोस प्रश्नों से न जुड़ कर अरूप और चिरंतनवादी हो उठे हैं। अनुभवों के समसामयिक होने और निष्कर्षों के चिरंतनवादी हो उठने का अन्तर्विरोध उस समय के भीतर ही वर्तमान है। इसलिए छायावादी काव्य को समय के उस अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति के रूप में ही देखना चाहिए।

---

१. The bourgeoisie historically has played a most revolutionary part. The bourgeoisie when even it has got the upper hands has an end to all feudal patriorchal idyllic relation. It has pitilessly torn assunder the mostly feudal ties that bound man to his natural superiors. —Illusion and Reality.

छायावाद जिस व्यक्तिवादी चेतना के उन्मेष से स्पन्दित है वह उन्मेष अपने मूल में समाज विरोधी नहीं है। वह विरोधी है सामंती जड़ सामूहिकता का। अपने अनुभव, अपनी दृष्टि, अपना चिंतन, अपनी कल्पना खोकर व्यक्ति जो समूह बनाते हैं उसकी सार्थकता कहां है ? वह किस रूप में जीवंत कहा जा सकता है। सड़े-गले रूढ़िबद्ध वर्णाश्रम व्यवस्था में जकड़े हुए मूल्यों और स्थिर सम्बन्धों में फंसे हुए व्यक्तियों का समाज किस काम का ? पूंजीवादी और छायावादी व्यक्ति स्वातंत्र्य व्यक्तियों के अपने अनुभवों, चिंतन, कल्पना आदि को महत्व देता है और समाज का निषेध न करके एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जो स्वतंत्र और जीवंत व्यक्तियों से बना हो। यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य, यह व्यक्ति-चेतना का उन्मेष निश्चय ही एक प्रगतिशील चेतना है जो पुरानी व्यवस्था से टकराती एक नयी व्यवस्था के भीतर से फूट रहा है। छाया-वादी कवियों ने इस स्वर को वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षित किया हो या न किया हो वे उसका अनुभव बड़ी तीव्रता से कर रहे थे। विविध प्रतीकों से वे इस स्वर को-अभिव्यक्ति दे रहे थे। किशोर कवि पंत के चिंतन से नहीं, उनके अनुभव से यह स्वर बड़ी तीव्रता से फूट पड़ता है। 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणी' कविता में कवि बाल विहगिनि के रूप में स्वयं ही नयी सुबह की इस नयी किरण के आने की पहचान कर रहा है। यह कविता मात्र प्रकृति चित्र नहीं है वह अपने भीतर विगत यानी रात यानी सामंतवादी व्यवस्था की सारी जड़ता, एकरूपता, अंधविश्वास तथा आगत यानी सुबह यानी पूंजीवादी चेतना की जीवंतता, गतिशीलता और विविध छविमयता का भी चित्र है। रात का चित्र प्रकारांतर से सामंतवादी जीवन का ही चित्र है—

निकल सृष्टि के अंध गर्भ से
छायातन बहु छायाहीन
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहक टोना माना
छिपा रही थी मुख शशिबाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन
कमल क्रोड़ में बंदी था अलि
कोक शोक से दीवाना
मूर्च्छित थीं इन्द्रियां, स्तब्ध जग
जड़ चेतन सब एकाकार
शून्य विश्व के उर में केवल
सांसों का आना जाना
और अब
तूने ही पहले बहु दर्शिनि
गाया जागृति का गाना

श्री सुख सौरभ का नभचारिणि
गूंथ दिया ताना - बाना
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुंज में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत जाल में
धर कर नाम रूप नाना
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि
जगी सुरभि, डोले मधु बाल
स्पंदन कंपन औ—नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना

छायावाद में मुक्ति की छटपटाहट है। यह मुक्ति व्यक्ति की तो है ही उसमें देश की मुक्ति की तड़प भी भरी हुई है। देश की मुक्ति के लिए भी व्यक्ति की मुक्ति आवश्यक है। जब व्यक्ति जागेगा, आत्मचेता बनेगा, जब आप्त कथनों, धार्मिक रूढ़ियों, विकृत परंपराओं, अंधविश्वासों, भयों आदि से मुक्त होकर अपने चिन्तन-मनन, अनुभव और आत्मगौरव पर ध्यान देगा तभी देश को स्वातंत्र्य प्राप्त होगा। इस मुक्ति में आत्म-केन्द्रण के स्थान पर आत्म प्रसारण की प्रकृति निहित है। रवीन्द्रनाथ का 'निझरेर स्वप्न भंग' प्रतीकात्मक रूप से सारे सामंती बन्धनों को तोड़ कर फूट चलने वाली नयी व्यक्तित्व-चेतना की कहानी है: निर्झर आत्म-प्रसार की कल्पना से पुलकित हो रहा है। आज वह करुणा धारा ढालेगा, पाषाण कारा तोड़ेगा, सूर्य की किरणों में हंसी बिखेरेगा और सर्वत्र प्राणों का संचार करेगा। उसके पास अनंत कथाएं हैं, अनंत प्राण हैं, अनंत सुख हैं, अनंत साधें हैं।

छायावाद की अनेक कविताओं में सीधे या प्रकारान्तर से यही स्वर ध्वनित है। यह नया स्वर एक ओर पुरानी जड़ताओं को तोड़ता है तो दूसरी ओर व्यक्ति के अनुभव और सौन्दर्य-दृष्टि के अनेक आयाम उद्घाटित करता है और वह कल्पना को जाग्रत कर प्रकृति तथा मानव जगत की अनेक अनदेखी अनजानी घाटियों की यात्रा करने को प्रेरित करता है। कवि कुछ बंधे बंधाये संदर्भों से जुड़े क्रमागत अनुभवों के स्थान पर अपने भीतर उभरने वाले सुख-दुख के नये अनुभवों के स्तर उद्घाटित करने लगे। इस प्रकार मानव जगत की आंतरिकता की अनेक छोटी-छोटी दीप्तियां उभरने लगीं और हमारे अनुभव समृद्ध होने लगे।

महादेवी वर्मा की कविता 'लाये कौन संदेश नये घन' में इन छोटे-छोटे नये अनुभवों के स्वर खुलते दिखाई पड़ते हैं। गर्वित आकाश नत हो गया, उसके स्पन्दनहीन हृदय में पुलकों के सावन उमड़ पड़े। सामंतकाल का चिर निस्पंद महत् सुख-दुःख की सवेदना से युक्त प्यारा लघु हो गया। नींद में डूबी रात चौंक पड़ी, दिशाओं का परिमल-अंचल चंचल

हो गया, जड़ जग स्पंदित हो गया, अंचल कंपित हो गया और अवनी के हृदय में रुद्ध सपने आज अंकुर बन कर फूट पड़े—मनुष्य के हृदय में चिरकाल से तड़पते हुए सपनों को बाहर अंकुरित होने का अवसर मिला, चातक रो पड़ा, पिक सकुचा गया, मयूर नाच उठे। इसी प्रकार प्रसाद की 'उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर' में लहर छोटे-छोटे अनुभवों को रूपायित करती है।

दूसरी बात यह हुई कि सामंती भोगवादी (देहवादी) सौन्दर्य दृष्टि के स्थान पर वह सौन्दर्य दृष्टि विकसित हुई जो आन्तरिक चेतना से निर्मित होने के कारण अपनी प्रकृति में सामाजिक मंगल की कामना से स्पंदित है। इस सौन्दर्य दृष्टि की अपनी सीमाएं हैं, अपनी कमजोरियां हैं किन्तु सामंती दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में यह अधिक मानवीय और प्रगतिशील सौन्दर्यदृष्टि है—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं

इसी दृष्टि का परिणाम है कि कामायनी में काम को एक नया स्वरूप प्रदान किया गया। भक्तों ने काम का प्रतिकार किया था, उसे शंकर द्वारा जलवा दिया था इसके विपरीत रीतिकाल के कवियों ने काम का देह मांग के रूप में खुल कर इस्तेमाल किया। उनके आश्रयदाता सामंतों ने काम के सेवन में ही अपने को नियोजित कर दिया। इसलिए उनका विनाश हुआ। छायावाद ने काम के उपर्युक्त दोनों एकांगी स्वरूपों का प्रतिकार कर उसे नये रूप में प्रतिष्ठित किया। छायावाद ने काम की सुन्दरता और मांगलिकता से उसके संश्लिष्ट बिम्ब का निर्माण किया। काम तो सुन्दर है ही, वह मांगलिक भी है। वही जगत के बिखरे अणु-परमाणुओं को संचालित कर एकरूप में पिरोता है और संसार का सचालन करता है। रागमय होने से ही मनुष्य संसार में कार्य करता है—

यह नीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है

श्रद्धा इसी काम की बेटी है जो सुन्दर तो है ही अपनी प्रकृति में उदार भी है, मांगलिक है, शक्ति की प्रेरणा है। वह मनु को सृष्टि के विकास के लिए कर्म करने को प्रेरित करती है—

हार बैठे जीवन का दांव
जीतते जिसको मर कर वीर

इस श्रद्धा को, इस शीलमय सौन्दर्य को सामंती संस्कार से नहीं बल्कि उस संस्कार के त्याग से पाया जा सकता है। उसके लिए योग्य बनना पड़ता है—

उसको पाने की इच्छा हो
तो योग्य बनो ··· ··· —

यहां एक बात फिर दुहरा दूं कि छायावाद में प्रगति चेतना उसकी अनेक सीमाओं और अन्तर्विरोधों के साथ मौजूद है। इस निबंध में प्रमुखतः छायावाद और उस युग की

सीमा में उभरने वाली प्रगति चेतना के स्वरूप की ओर ही संकेत किया जा रहा है उसकी कमियों और अन्तर्विरोधों की ओर नहीं।

पूंजीवादी व्यवस्था की व्यक्तिवादी चेतना के आलोक में कवियों ने सामंतवादी व्यवस्था की अनेक विसंगतियों पर प्रहार किया। 'कामायनी' में देवलोक की आत्यंतिक विलासिता और उसके परिणामों का चित्र प्रकारांतर से सामंत लोक का ही चित्र है और श्रद्धा की उदार मानसिकता और क्रिया-कलाप नये युग की मानवतावादी चेतना के परिचायक हैं। पंत ने 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि' कविता में रात के माध्यम से सामंती जड़ता तथा प्रभात के माध्यम से नये युग की नयी चेतना, सौन्दर्य और गति का चित्रण किया है। 'परिवर्तन' कविता में समय के क्रूर परिवर्तन का चित्र है। प्रसाद परिवर्तन को सृष्टि का नियम मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि परिवर्तन ही सृष्टि के नित नूतन सौन्दर्य और शक्ति का रहस्य है—

प्रकृति के यौवन का श्रृंगार करेंगे कभी न बासी फूल
मिलेंगे वे जाकर अतिशीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल
पुरातनता का दर्द निर्भीक सहन करती न प्रकृति पल एक
नित्य नूतनता का आनंद लिये है परिवर्तन में देह

निराला के 'तुलसीदास' में नव जीवन का आलोक पाकर नये जीवन मूल्यों की स्थापना की और जर्जर मूल्यों के ध्वंस की कहानी है। सामंतीकाल में पूरी सांस्कृतिक चेतना अवरुद्ध हो गयी थी। निराला ने 'तुलसीदास' में भारतीय संस्कृति के इस दयनीय रूप को देखा है—

भारत के नभ का प्रभा सूर्य
शीतच्छाम सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे तमस्तूर्य दिग्मंडल

तुलसीदास पांव में जंजीर बनकर लिपटने वाली खोखली मर्यादाओं को निस्संकोच तड़ातड़ तोड़ते गये। ध्यान देने की बात है कि 'तुलसीदास' में तुलसीदास का व्यक्तित्व बंध कर नहीं, खुल कर अनंत प्रकृति के बीच उन्मुक्त उड़ान भर कर और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से ऊर्जस्वित होकर ही निखरता है। तुलसी के रूप में स्वयं कवि निराला वर्तमान हैं।

छायावाद मानवतावादी चेतना का काव्य है। मानवतावाद मानव को महत्व देता है। वह एक ओर मानव के द्वारा किसी आधिदैविक सत्ता के शासन को स्वीकार नहीं करता, दूसरी ओर धन-दौलत और पद के आधार पर किसी मनुष्य की महत्ता स्वीकार नहीं करता, तीसरी ओर वह मनुष्य को उसकी सामान्यता में स्वीकार करता हुआ भी उसे मात्र क्षुद्र वासनाओं का दास नहीं मानता। वह मनुष्य को उसकी पूरी शक्ति और सीमाओं के साथ स्वीकारता है, उसे गतिशील मानता है और मानवीय प्रेम, सद्भाव आदि

को ही मानव-सम्बन्धों का संघटक तत्व मान कर धर्म-कर्म, पद-संपत्ति, जाति-पांत आदि के बाहरी अवरोधक विधानों को अस्वीकार करता है। मानवतावाद मध्यकालीन सामंती सम्बन्ध व्यवस्था और चिंतन के विरुद्ध एक प्रगतिशील चरण है। वह भले ही बहुत कुछ अरूप हो और आगे चलकर पूंजीवादी व्यवस्था की असंगतियों का शिकार होकर विकृत हो गया हो। छायावाद के कवि प्रसाद जी ने आधुनिक काल की कविता को यथार्थवाद के साथ जोड़ा और उन्होंने कहा कि 'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है लघुता की ओर दृष्टिपात। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धांत के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण से अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दु:ख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।' प्रसाद जी ने अपने समय के स्वभाव को समझते हुए आगे लिखा है—भारत के लिए उस समय दोनों ही वास्तविक थे—यहां के दरिद्र जनसाधारण और महाशक्तिशाली नरपति। किन्तु जनसाधारण और उनकी लघुता के वास्तविक होने का एक रहस्य है। भारतीय नरेशों की उपस्थिति भारत के साम्राज्य को बचा नहीं सकी। फलत: उनकी वास्तविक सत्ता में अविश्वास होना सकारण था। धार्मिक प्रवचनों ने पतन में और विवेक-दम्भपूर्ण आडंबरों ने अपराधों में कोई रुकावट नहीं डाली। तब राजसत्ता का कृत्रिम और धार्मिक महत्व व्यर्थ हो गया और साधारण मनुष्य जिसे पहले लोग अकिंचन समझते थे वही क्षुद्रता में महान दिखाई पड़ने लगा।'

साधारण मनुष्य को महत्व देने की दो परिणतियां हो सकती हैं। (१) कवि मनुष्य के सामान्य सुख-दु:ख को नगण्य न मान कर उसे उद्घाटित करे। (२) सामान्य उपेक्षित जन के दारिद्रय और संघर्ष को चित्रित करे। छायावादी कविता ने मुख्यत: पहला ही काम किया। महत्वपूर्ण विषयों, नायकों और संदर्भों के स्थान पर कवियों ने अपने भीतर की छोटी-छोटी सुखात्मक दुखात्मक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति को महत्व दिया। अपने काव्यों और नाटकों में चित्रित पौराणिक और ऐतिहासिक उदात्त नायकों को भी प्यार और कर्त्तव्य, लघुता और महत्ता, शक्ति और अशक्ति के मानव सुलभ अंतर्द्वन्द्व से उष्म किया। जन साधारण के आर्थिक कष्ट के भी यत्र-तत्र चित्र मिलते हैं विशेषतया निराला की कविताओं और प्रसाद के कथा साहित्य में। किन्तु इस पक्ष का पूरा विकास आगे चल कर प्रगतिवाद में ही हुआ।

मानवतावादी चेतना से प्रेरित इन कवियों ने प्रेम के आधार पर मानव को एक करने का प्रयत्न किया। इस संदर्भ में इन्होंने पद, संपत्ति, जातिपांत, धर्म-सम्प्रदाय आदि की उपेक्षा की। ये सभी कृत्रिम दीवारें हैं। निराला ने रूढ़ियों को तोड़ शुद्ध मानवीय आधार पर प्यार करने वाले और प्यार के लिए साम्राज्य को लात मारने वाले एडवर्ड अष्टम के प्रति प्रणतिभाव व्यक्त किया। निराला स्वयं इन शोषक अमानवीय धार्मिक, सामाजिक और नैतिक दीवारों से टकराते रहे। बाहरी कर्मकाण्ड और भाग्यवाद पर

विश्वास करने वाले धर्मात्मा लोग मानवीय संवेदनाशून्य होकर हनुमान की औलाद बन्दर को तो पुए खिलाते हैं किन्तु मानव संतान उनके सामने हाथ पसारे उपेक्षित, अनदेखी, अनचाही रह जाती है—

झोली से पुए निकाल लिये
बढ़ते कपियों के हाथ दिये
देखा भी नहीं उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर
चिल्लाया किया दूर मानव
बोला मैं—धन्य श्रेष्ठ मानव

प्रसाद ने अपनी अनेक कहानियों और नाटकों में प्रेम के आधार पर ही अनेक वर्गों और स्थितियों के लोगों को मिलाया है। निराला ने जातिपांत व्यवस्था को अपनी कविताओं और कथाओं में जम कर ठोकर मारी है—

ये कान्य कुब्ज कुल कुलांगार
खाकर पत्तल में करें छेद

प्रगतिवादी चेतना की एक प्रमुख पहचान इस बात से भी होती है कि उस साहित्य की दृष्टि धरती की ओर हो। किसी प्रगतिवादी दर्शन का रंग दिये बिना भी कविता प्रगतिशील मानी जा सकती है यदि वह आकाश में उड़ान भरने के स्थान पर धरती के विविध रूपों, रंगों, ध्वनियों, गधों आदि के भीतर से यात्रा करती हो और जीवन के स्वस्थ उपभोग के प्रति आस्था जगाती हो। आचार्य शुक्ल कविता में हमारे नाना रूपात्मक संसार से लिये गये आलंबन पर बार-बार बल देते हैं। ऐसा आलंबन ही लोक हृदय को प्रभावित करता है। शुक्ल जी पश्चिम के व्यक्तिवादी और कल्पनावादी काव्य तथा प्रकारांतर से हिन्दी के छायावादी काव्य का विरोध इसीलिए करते हैं कि ये आकाश में उड़ते हैं। शुक्ल सैद्धांतिक रूप से सही हैं और बहुत दूर तक छायावाद के सम्बन्ध में उनकी आपत्तियां भी सही हैं फिर भी छायावाद का मूल सम्बन्ध धरती से न होकर आकाश से है यह नहीं कहा जा सकता। यह सच है कि छायावाद विषय के ग्रहण और भाषा के स्तर पर सामान्य जीवन से बहुत दूर है। उसने प्रकृति के जिन रूपों को लिया है वे रूप भी सामान्य जीवन की प्रकृति के बहुत समीप नहीं हैं और जिन रूपों को लिया गया है उन्हें भी कवियों ने अपनी ही मानसिकता के सदर्भ में निरूपित किया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि छायावाद की कविता भौतिक जीवन से दूर की कविता है या कि वह हमें भौतिक जीवन के स्वस्थ उपभोग से विमुख कर किसी अज्ञात जगत में ले जाती है। छायावाद में असीम, अज्ञात आदि शब्द आते हैं। अध्यात्म-दर्शन के स्वर भी गूंजते हैं किन्तु यह तय है कि छायावादी काव्य चेतना का उद्गम और मूलाधार भौतिक जगत के अनुभव ही हैं। अध्यात्म-दर्शन या असीम अज्ञात के प्रति प्रेम का स्वर

अवधारणात्मक है और आरोपित है और उसका उपभोग इस जीवन के संदर्भ में ही किया गया है। आधुनिक काल की मूल चेतना भौतिकवादी है किन्तु छायावादकाल तक ईश्वर से या अध्यात्मवाद से उसका सम्बन्ध छूट नहीं सका। किन्तु यह भी ध्यान देने की बात है कि ईश्वर या अध्यात्मवाद या धर्म अपनी उपस्थिति की सार्थकता मानव मंगल के परिप्रेक्ष्य में ही प्रमाणित करता है। रवीन्द्रनाथ ने और फिर हिन्दी कवि रामनरेश त्रिपाठी ने ईश्वर की सत्ता सामान्य मानव के दु:खों और संघर्षों में देखी। निराला की 'प्रियतम' कविता में एक कर्मशील किसान भगवान् को नारद से अधिक प्रिय है। महादेवी वर्मा अपने लघुतम जीवन को ही उस असीम का सुन्दर जीवन मानती हुई पारंपरिक पूजा पाठ का निषेध करती हैं—

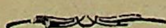
क्या पूजा क्या अर्चन रे
उस असीम का सुन्दर मन्दिर मेरा लघुतम जीवन रे

इस प्रकार छायावाद युग तक आते आते ईश्वर मानवोन्मुख हो गया था। धर्म बाह्य कर्मकांडों से मुक्त होकर मानव-धर्म बन गया था। इस मानवोन्मुख दृष्टि को लेकर छायावादी कविता ने प्रकृति और मनुष्य की अनंत छवियों को तथा मानवीय संवेदनाओं को उद्‌घाटित करना चाहा था। कहा जा चुका है कि इसमें जनवादी आन्दोलन नहीं है और इस दृष्टि से इसे रूढ़ अर्थ में प्रगतिवादी काव्य नहीं कहा जा सकता किन्तु स्वस्थ ढंग से मनुष्य के सौन्दर्य और प्रेम को उद्‌घाटित कर मानव महिमा के प्रति आस्था जगाना भी प्रगतिशील चेतना का एक आयाम है। कम से कम इसे प्रतिक्रियावादी नहीं कहा जा सकता। और जो काव्य प्रतिक्रियावादी नहीं है, मनुष्य के मन में मनुष्य के प्रति घृणा नहीं पैदा करता, जो जातिवाद सम्प्रदायवाद का भाव नहीं उभारता, जो मानव प्रगति में रुकावट नहीं डालता बल्कि उलटे प्रेम के धरातल पर मानव को मानव से जोड़ता है और मानव के सौन्दर्य और अनंत लघु संवेदनों के प्रति आस्था व्यक्त करता है उसे प्रतिक्रियावादी कैसे कहा जा सकता है और यदि वह प्रतिक्रियावादी नहीं है तो प्रतिक्रियावादी और प्रगतिवादी दो ही खेमों में बांट कर साहित्य को देखने वाली दृष्टि इन कविताओं को कहां रखेगी ? ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से और उदार मानव चेतना की दृष्टि से इन कविताओं में प्रगतिशील चेतना की अवस्थिति निश्चित ही दिखाई पड़ती है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन कवियों में जिसने मानवीय और प्रकृति छवि की संवेदना को रहस्यवादी कुहरे के जाल में जितना ही अधिक उलझाया है, जिसके मानवीय अनुभव का स्वरूप जितना ही क्षीण और सीमित है, जिसमें कविता की परिणतियां जितनी ही अधिक अध्यात्म दर्शन से पीड़ित हो गई हैं ; जिसमें निराशा, विरह और कुंठा की व्याप्ति जितनी ही अधिक है उसकी प्रगतिचेतना उतनी ही अधिक क्षीण है। यह स्पष्ट कर दूं कि प्रगतिवाद का वैज्ञानिक दृष्टिकोण तो इस काल में किसी कवि को प्राप्त नहीं हुआ था इसलिए अनुभव के धरातल पर ही उनकी प्रगति चेतना के अधिक होने या न होने की पहचान की जा सकती है। और तब लगता है कि निराला में सर्वाधिक प्रगतिचेतना थी।

निराला अपने जीवन में विद्रोही रहे। वे समाज की अनेक विभीषिकाओं, असत्यों, अभावों आदि से टकराये, टूटे, टूट कर बनते रहे और व्यक्ति से समाज की संवेदना की ओर बढ़ते रहे। इसलिए निराला की कविताओं में एक ओर 'सरोज स्मृति' दिखाई पड़ेगी, जिसमें कवि और कवि के माध्यम से एक विद्रोही व्यक्ति के उठने-गिरने, टूटने-बनने, खोने-पाने, संघर्ष करने और दारिद्रय भोगने आदि की अनेक विषम और सघन अनुभूतियां जीवत रूप में मूर्त हुई हैं दूसरी ओर 'वह तोड़ती पत्थर', विधवा, भिक्षुक जैसी कविताएं हैं जो अभिशप्त, उपेक्षित वर्ग के व्यक्तियों की गहरी पीड़ा की अभिव्यक्तियां हैं, तीसरी ओर 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविता है जिसमें एक पौराणिक संदर्भ को कवि ने समकालीन सवेदना और शक्ति से सम्पन्न किया है। निराला की प्रकृति-प्रेम और मानव-प्रेम सम्बन्धी जो कविताएं हैं वे भी अपने अनुभवों में अधिक लौकिक साधन हैं। डॉ० राम विलास शर्मा ने राग-विराग की भूमिका में निराला की इस सहज प्रगतिशीलता को बड़ी सफाई से उद्घाटित किया है। उन्हीं के शब्दों में—"कवि चाहे अमृत दे, चाहे विष, इनके स्रोत इसी धरती में हों तो उसकी कविता अमर है।" निराला की कविता इस धरती से दूर कोई मनोरम अपार्थिव लोक नहीं रचती। वह पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से बंधी हुई है। 'जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवे'—वह आकाश में चक्कर काटने के बाद इसी धरती पर लौट आती है।

यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि नारी का या रूप का चित्रण करने से कोई कवि अप्रगतिवादी नहीं होता और न इनसे बच कर निकल जाने वाला कवि प्रगतिवादी कहा जा सकता है। रामविलास शर्मा ने निराला की कविताओं में रूप को और रूप से ज्यादा गंध को देखा है और यह पहचान करने की कोशिश की है कि कवि अपने स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में धरती से जुड़ा है। रूप भी धरती का ही गुण है और गंध भी। इसलिए वह सौन्दर्य चित्रण के बीच से भी प्रगतिशील चेतना का वाहक है। अन्य कवियों का रूप और गंध-जगत निराला की अपेक्षा विरल है ; धरती से कम और भावनाओं से अधिक जुड़ा है और उसमें धरती के रूप और गंध का सघन वैविध्य भी नहीं है इसलिए अनुभव के स्तर पर उनकी प्रगति चेतना निराला की अपेक्षा धूमिल और उथली है।

कविता में प्रगतिशीलता की पहचान कविता की दृष्टि से की जाये तो बहुत सा अनावश्यक वितंडावाद शांत हो जाये और तब शायद 'राम की शक्तिपूजा' की अपेक्षा 'कुकुरमुत्ता' को और केदारनाथ अग्रवाल आदि परवर्ती प्रगतिवादी कवियों की अच्छी सौन्दर्य संदर्भित कविताओं की अपेक्षा उनकी हलकी प्रचारवादी कविताओं को तथा अच्छे कवियों की अपेक्षा घटिया पार्टीवादी कवियों को महत्व देने की सनक बन्द हो जाये या कम से कम कुछ हलकी पड़ जाये।



व्यर्थताबोध

'निर्मल' विनोद

गये हुए वर्षों की याद
अब सचमुच व्यर्थ है.

बांझ कल्पनाम्रों-से खत
गये
मगर
लौट कर चले ग्राये
होकर बेरंग
किस्मत पाजी बड़ी
उल्टे हैं शर्तिया
इसके सब ढग
रोना किस ग्रर्थ है ?

गये हुए वर्षों की याद
अब सचमुच व्यर्थ है.

कटी हुई जीभ का बयान
सुना।
ओर
सुन कर अनसुना किया
ज़िंदगी मज़ाक
उड़ रहा कपूर है
सोचते न सोचते
होगा, बेबाक
बड़ा ही अनर्थ है.

गये हुए वर्षों की याद
अब सचमुच व्यर्थ है.

●

तूफान

विष्णु प्रभाकर

उत्तराखण्ड के मार्ग पर गगनचुम्बी हिम-शिखरों की तलहटी में बसी वह छोटी-सी बस्ती वर्ष के बहुत बड़े भाग में सोती रहती है पर यात्रा के इन थोड़े से दिनों में वह जैसे दीर्घ मौन का बदला लेती हो, शोर-शोर, यात्रियों का शोर, कुलियों का शोर, चट्टीवालों का शोर—इधर आइये, इधर, पानी है इधर, नल सामने ही है, कमरे में दरी है, किवाड़ भी है, आइये आइये, राशन, मेवा, दूध, चाय, जूते, कपड़े सब कुछ है···

उधर की चट्टी वाला और भी जोर से पुकारता है, इधर इधर बैठिए साब जी, इधर गन्दगी है। कमरा नया है। अभी-अभी डी० डी० टी० हुआ है। ताजा दूध, ताजा जलेबियां गरम-गरम, आइये-आइये जल्दी, तूफान आने वाला है···

ये स्वर एक दूसरे को काटते हैं। मेघाच्छन आकाश और भी डरावना होता है। संध्या की पहचान रात की बाहों में खोने लगती है। थके यात्री इधर-उधर कमरों की तलाश में व्यस्त हो उठते हैं। पृष्ठभूमि में घोड़ों की टाप, पत्थरों से टकराती लाठियों की गूंज, हांफते हुए डांडी वालों के तेज होते 'हट कर, बच कर' स्वर उठते रहते हैं ··

तभी दो नारियां तेजी से एक चट्टी से बाहर आती हैं। एक वृद्धा है, शिथिल-गात कहीं भी लेटने को आतुर, दूसरी युवति है, पुष्ट देहयष्टि, मुख पर दृढ़ विश्वास, कह रही है, "नहीं बुआ, नहीं। मैंने कह जो दिया। मैं यहां नहीं रहूंगी ?"

बुआ समझाती है, 'अरी सुन तो रश्मि बेटी ! अगली चट्टी तीन मील दूर बतावे हैं। पहुचते-पहुंचते आधी रात हो जागी। और आस्मान को तो देख, कैसा डरावे है, बरखा बस इब आयी, इब आयी। आ गयी तो जागी ना दिके "

रश्मि रुकती ही नहीं। वहीं से कहती है, 'बरखा आवे, तूफान आवे, काल ही क्यों न आवे। मैं यहां नहीं रुकूंगी। यहां जगह नहीं है।'

'है क्यों नहीं ? अभी तो उस कमरे के वास्ते तू चट्टी वाले से लड़ रही थी। इतनी देर में क्या हो गया ? अन्दर गयी और लौट आयी। वहां क्या भूत बैठे हैं।···'

'भूत नहीं है, बीमार है।'

'तो क्या हुआ ? उसकी बीमारी क्या तुझे चिपट जागी ? बेचारे भले आदमी दिक्खे मुझे तो। तीन दिन से इस बियाबान में पड़े हैं। न दवा, न दारु, न कोई देक्खन वाला '

रश्मि और दूर चली गयी थी। बुआ वहीं खड़ी थी। चारों तरफ का शोर अभी भी शांत नहीं हुआ था। इस लिये उसने स्वर को और तीव्र करते हुए कहा, "कोई देखने वाला नहीं तो, मैं क्या करूं ? मैं तीर्थ यात्रा करने आयी हू तीमारदारी करने नहीं।"

बुआ ने भी बिना एक पग आगे बढ़ाये उसी तेजी से उत्तर दिया, "मैं क्या तुझे तीमारदारी करने को कहूं हू। पर, परदेश में दो जने मिल जा हैं तो ग्यारह हो जा हैं। दुख बट जावे है बावली।"

उत्तर आया, "तो तुम बांट लो, मैं तो चली।"

बुआ ने मानो अनन्त को सुनाते हुए कहा, "हाय, हाय, कैसी निरदय है। दूसरे का दरद समझे ही नहीं। वह दिन याद नहीं रहा जब बार-बार हाथ जोड़े थी, बार-बार कहवे थी—बुआ, मेरा अब कोन है। तू ही मुझे तीरथ करा ला।"

पता नहीं अनन्त भगवान उसकी बात सुन रहे थे या नहीं पर एक तीसरा व्यक्ति अवश्य सुन रहा था। शान्त मन आगे आकर उसने इतना ही कहा, "आप जायें उनके साथ। ऐसे में उनका अकेले जाना ठीक नहीं है। तूफान आने ही वाला है।"

बुआ चौंक पड़ी। सामने गोपाल था। वह सहानुभूति से भर कर बोली, "क्या बीमारी है तुम्हारे भाई को बेटा ?"

"पता नहीं कैसा बुखार है ? आखें लाल हो गयी हैं। कभी-कभी बेहोश भी हो जाता है।"

"हाय राम," बुआ कांपी, "बेहोश हो जा है। डाक्टर को दिखाया।"

'यहां डाक्टर कहाँ। एक कम्पाउंडर है। वह कहता है मोतीझरा है शायद।'

"मोतीझरा। इस बियाबान में, न अस्पताल, न डाक्टर। घर खबर भेजी ?"

गोपाल हंसा। डूबती सांझ-सी वह हंसी, बुआ का दिल धक-धक कर उठा। बोली, "समझ गयी। यहां क्या तार-घर है ? आदमी भेजो तो आने-जाने में दस दिन लग जागे। ···समझ नहीं आवे इसकी माया। पहले तो ठहरने के लिये हठ कर रही थी। बीमार को देखा तो भाग गयी। दुखिया भी दुखिया के दुख को न समझेगी तो···"

गोपाल सहसा सामने देखकर बोल उठा, "वह परेशान सी लौट रही हैं। आप अब जायें।"

सचमुच रश्मि क्रुद्ध-कम्पित स्वर में पुकार रही थी, "तुम आती हो कि नहीं। फिर हर किसी से शिकायत करती फिरोगी कि मुझे अकेला छोड़ गयी थी।"

अचकचा कर बुआ ने आवाज को सातवें आस्मान तक ले जाकर कहा, "आ तो रही हूं। चीखो मत।"

और फिर धीरे से जैसे गोपाल को सुनाती हो, "ना बाबा ! इसका दिमाग समझ में नहीं आवे। घड़ी में देवी तो घड़ी में दानवी। आज तो हद कर दी इसने, नहीं तो इस जैसी सेवा…"

सहसा वायु का तेज झोंका बीच से होकर निकल गया। बुआ जा चुकी थी। शोर शान्त हो रहा था। गोपाल उसके जाने की दिशा में तब तक देखता रहा जब तक चट्टी के मालिक सितार्बसिंह ने नहीं पुकार लिया, "बाबू जी ! आज तो चट्टी भर गयी। बहुत यात्री आये हैं। अच्छा हुआ वे औरतें चली गयीं। नहीं तो टर-टर करके आपको परेशान कर देतीं "

फिर वह झिझका। गोपाल ने घिरते आते अंधेरे में भी उसकी आंखों के भावों को पढ़ लिया, कहा, "कोई और आया है शायद। मुझे कोई एतराज़ नही। वह चाहे तो मेरे कमरे में ठहर सकता है।"

बातें करते-करते वे कमरे के बाहर तक आ गये थे। उसी क्षण गोपाल ने एक अफसर जैसे व्यक्ति को देखा। उसने सितार्बसिंह को डांटते हुए कहा, 'तुम तो कहते थे कि कमरा खाली है। वहां तो कोई बीमार लेटा है।'

उत्तर गोपाल ने दिया, 'लेटे रहने दीजिये। कमरा बड़ा है। दूसरे कोने में आप लेट जाइये। एक रात ही तो बितानी है आपको।'

"पर बीमार के साथ नहीं। उसको मोतीझरा बोलते हैं। नो, नो हम वहां नहीं रहेगा। टाइफाइड के बीमार के साथ एक कमरे में—ना बाबा।"

और उत्तर की अपेक्षा किये बिना वह चले गये। सितार्बसिंह को एकाएक हंसी आ गयी। बोला, जब मैंने कहा था कि जगह नहीं है तो थाना-पुलिस करने को तैयार थे। अब ऐसे भागे जैसे जमराज इन्हीं को लेने आ रहे हों। यह भी अच्छा हुआ। अब आप निश्चित होकर सोइये और मेरी बात मान लीजिए सवेरे जैसे भी हो डांडी करके लौट जाइये। आप शहर के लोग…"

गोपाल इसका अर्थ समझता था। बोला, "चिन्ता मत करो सितार्बसिंह। मैं कल तुम्हारा कमरा छोड़ दूंगा।"

'जी…जी…मेरा यह मतलब नहीं था '

"नहीं होगा। पर, मेरे कारण तुम्हारी आमदनी तो घटती ही है।"

और गोपाल तेजी से अन्दर चला गया। सितार्बसिंह ने एक क्षण उसकी ओर देखा फिर जैसे चिढ़ गया हो, बोला, "देखा बाबू साहब का मिजाज। आमदनी घट रही है। हां, घट रही है। चट्टी यात्रियों के लिए है, बीमारों के लिए नहीं। हम घर-बार, बाल-बच्चे छोड़ कर यहां बैठते हैं तो कमाने के लिए, परोपकार के लिए नहीं। सारे साल में ये ही दिन तो होते हैं कमाने के "

तभी सहसा बादल तेजी से गरज-गरज उठते हैं। सितार्बसिंह भागता है। वह पहाड़ी बस्ती तेज बौछारों में नहा जाती है। देखते-देखते धरती पर पानी उमड़ता है, आकाश में बिजली चमकती है। प्रमाणित हो जाता है कि यह प्रलयंकर शिव की भूमि है जो जब भी जी में आता है डमरू बजा कर नाच उठते हैं। धरती कांप-कांप उठती है। बन्द कमरे से उठती बीमार की दर्द भरी कराहट उसमें डूब-डूब जाती है। गोपाल के अन्तर का आर्तनाद उभर-उभर कर बिखर जाता है। वह धीमे-धीमे भाई के माथे को सहलाना चाहता है कि चौंक उठता है—जलते तवे पर हाथ पड़ गया हो जैसे···

"ज्वर कितना बढ़ गया है। कैसे ठीक होगा, क्या होगा ?"

सहसा मस्तिष्क को झटका देता है, "नहीं, नहीं, सब ठीक होगा। मुझे घबराना नहीं चाहिए। टाइफाइड में तो ज्वर तेज होता ही है।"

फिर नीचे झुक कर पुकारता है, "अजित ! पानी लोगे या चाय ?"

अजित चौंक कर आंखें खोलता है, जैसे अंगार दहकते हों, पुकारता है, "मां, मां, कहां हो तुम ?"

फिर हाथ पटकने लगता है। गोपाल जैसे उसे अपने में समेटता हो, कहता है, "न, न, ऐसे नहीं हाथ मलते। अजित, अजित, बोलते क्यों नहीं ? अरे, यह तो बेहोश हो रहा है। ओह ! मैं क्या करूं, कहां जाऊं ? अब इस तूफान में···अजित, अजित, न, न, उठो नहीं, गोली लो, गोली···"

अजित एकाएक चीख उठता है, "मां···मां···"

कराहट भरे वे शब्द फिर तूफान में खो जाते हैं। वह अब पूरी शक्ति के साथ लरज रहा है और यह क्या···उसके भीषण रव को चीर कर यह स्वर तूफानी लहरों पर तैरता हुआ पास आता है, दूर जाता है—

'हरि दरसन बिन तड़पत नयनवा।"

जैसे-जैसे तूफान उच्छृंखल होता है दर्द भरा स्वर भी वैसे ही मुखर होता जाता है। गोपाल एकाएक चीख उठता है, "बन्द करो, बन्द कर दो यह गाना··"

दूसरे ही क्षण सोचता है, "मैं भी कैसा मूर्ख हूं। मैं किसी को कैसे रोक सकता हूं। और यह स्वर भी तो कैसा प्यारा है। जी करता है सुने जाओ, सुने जाओ—"

यह है कौन ? कौन है यह ? कहीं···नहीं, नहीं वह नहीं है। वह तो अब तक अगली चट्टी पर जाकर सो चुकी होगी। कितना हठ, कितना आक्रोश, पर जब उसने अजित को देखा था तो एकाएक सहम गयी थी। देर तक देखती रही थी जैसे टकटकी बंध गयी हो। कैसी तरल पर दूसरे ही क्षण कैसी कठोर। परिवर्तन के उन क्षणों में कितने भाव आये, कितने गये। युग तैर गये उस तूफान में और उस झंझा ने कैसी गति भर दी उन पैरों में

सादी श्वेत साड़ी, केशहीन सिर, पर कैसा भावपूर्ण चेहरा, कैसी कसी देहयष्टि, क्या है जो उसे रोगी से दूर खींच ले गया। प्राणों का मोह या··

सहसा वह चौंक उठा। अजित की कराहट में कैसी करुणा थी ? देखा वह पसीने में डूबा है। अंगार जैसी आंखें फट-सी गयी हैं। क्षण के सहस्रवें भाग में एक दुर्दम्य निराशा ने उसे जकड़ सा लिया। पुकार उठा, "सिताबसिंह, सिताबसिंह।"

उस तूफान के भीतर से जो उत्तर उभरा वह सिताबसिंह का नहीं था। वह एक नारी का मधुर स्वर था डरा-डरा सा, "क्या बात है ?"

"मेरे भाई की हालत अच्छी नहीं है।"

'अभी आती हूं'—स्वर और पास आता है, बिल्कुल पास···

'अरे तुम तो बुरी तरह भीग रही हो।'

'मुझे एक धोती दो अपनी, जल्दी।'

धोती देता-देता गोपाल यंत्रवत बोलता रहा, "कहां से आ रही हो इतनी रात को, भटक गयी थीं।"

"मोमबत्ती तेज करो भाई और उधर हट जाओ। हटो न, ऐसे क्या देखते हो अभी सब कुछ बताती हूं।"

"तुम तुम···वही···वही हो, हां वही जो संध्या को यहां से भाग खड़ी हुई थीं"—कहते-कहते गोपाल आक्रोश में भर उठा।

विनम्र स्वर में वह बोली, "किवाड़ बन्द कर लेने दो।"

"तुम चली जाओ, अभी चली जाओ।"

"जाऊंगी तो जरूर पर भाई, अब जरा उधर तो हटो। मुझे बैठने दो···सचमुच। भट्टी सा दहक रहा है इसका शरीर। तौलिया दो मुझे। एक तुम लो। मैं पैरों के तलवे सहलाती हूं, तुम हथेलियां सहलाओ···ऐसे ··'

मंत्र-कीलित की तरह गोपाल वही करता रहा जो करने को उसे कहा गया था।

बाहर तूफान उसी तरह घुमड़ रहा था, भीतर सब कुछ मौन था। कभी-कभी कराहट मर्मर ध्वनि पैदा करती, कभी अन्तर का तूफान मचल उठता होड़ लेने को। तब हाथों की गति और तेज हो जाती।

अजित की छटपटाहट कुछ बढ़ी। फिर आंखों में नींद उतरने लगी। गोपाल का अन्तर्मन्थन तब तक कई दिशायें बदल चुका था। फिर भी उसने पूछ ही लिया, "तुम लौट कर क्यों आईं ?"

चाहता था उसके स्वर में आक्रोश हो पर वह हो उठा परम शांत। उसी शांति से रश्मि बोली, "आपसे कुछ कहने।"

"मुझ से ?"

"जी हां !"

"उसके बाद भी कुछ कहने को रह गया था ?"

"उसके बाद ही तो जरूरत थी पर अब जाने दो उन बातों को।"

एक क्षण फिर मौन गहरा उठा। दूसरे क्षण गोपाल चौंक कर बोला, "नहीं, तुम्हें बताना होगा।"

"देखो, अजित सो गया है।"
"तुम्हारा कृतज्ञ हूं, फिर भी "
"तुम मुझे नीच समझ रहे हो न ?"
"......... ..."

"मैंने काम ही ऐसा किया था," वह बोली, "बड़ी अभागिन हूं। मां ने प्रसूति में ही आंखें मूंद ली थीं। भरी जवानी में पति साथ छोड़ गया। एक बेटा था जो बारह वर्ष का होते न होते चला गया। बाप के घर लौटी तो देहली पर पांव रखते ही उसने स्वर्ग का रास्ता पकड़ा। जहां जाती हू सर्वनाश साथ जाता है। जिसे प्यार करती हूं वही मिट जाता है। मेरी छाया में मौत का वासा है "

चकित-व्यथित गोपाल जैसे शून्य में से बोलता है, "यही बात कहने आयी थीं तुम ?"

"हां !"

तूफान की गति कितनी तीव्र थी उस क्षण, अन्दर भी, बाहर भी, कौन थहाता उसे ; सो मौन गहराता रहा। कई क्षण बाद रश्मि बोली, "अब जाती हूं।"

पर उठने के प्रयत्न में उसने पाया कि जाने कब गोपाल का हाथ उसके कन्धे पर कस गया था। हर क्षण वह कसावट तेज हो रही थी। कैसा उन्माद, कैसा आनन्द तैर आया उसके अन्तर में। उसी आनन्द के उद्रेक में गोपाल ने कहा, "देखो तो, कैसे सुख से सो रहा है अजित।"

भीतर की आंख
बाहर की आंख

सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम'

[एक]

टीन की छत पर ओले पड़े
कांच के वातायन टूट गए
किसी का मन जला
किसी के खिलौने बन गए ;
ऐ बसंत
तेरे आने से पहले
यही दो गीत थे
तेरे आगमन पर
यही दो गीत हैं
तेरे गमन पर
न जाने क्या होगा ?

[दो]

हरी दूब पर बैठे-बैठे
कितने ही विचार जन्म जाते हैं
अपनी सूखी घास के

जिन में
बना चुकी हैं नीड़
दूर दूर से आई चिड़ियां
और
इनका एक एक तिनका
चुभ जाता है--
टीस दे जाता है।

[तीन]

देखा—
सूखी दूब हरी हो गई है
धसी हुई आंख
पांख बन गई है,
मेरे तुम्हारे मध्य
उग आई चंद्र-किरण
तेरे माथे की बिन्दिया
मेरे होठों का शब्द बन गई है
कैसी घटना बो गई है

देखा—
सूखी दूब हरी हो गई।
आंगन का वृद्ध बबूल
पीले पुष्पों की डोली में
देख रहा यौवन अपना
बीता हुआ सपना
और—
दूर तक फैले खेतों में
सरसों के साए लम्बे हो गए हैं
इतिहास के पन्ने
खूब गठ गए हैं
देख रहे हैं दिग्दिगन्त
स्मरण हो रहा बसंत
हा ! वाणी कहीं खो गई है

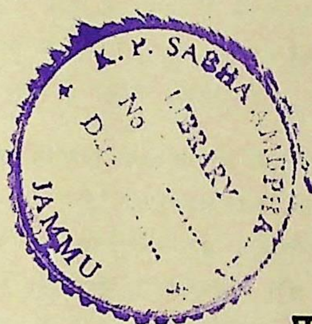
देखा—
सूखी दूब हरी हो गई है।

[चार]

हम दोनों
यों ही बैठे रहेंगे
अपने नीड़ में
दो पक्षी
कुछ बोलते रहेंगे,
तुम्हारे ललाट की झुर्रियां
मेरे अंतस की गांठें
चांदनी में धुल जाएंगी
संबल-शक्ति
जलपोत बन जाएगा
और रात बीत जाएगी।
हम दोनों
यों ही बैठे रहेंगे
गिनते रहेंगे तरु-पात
सहते रहेंगे चुभते आघात
फल पक जाएंगे
टहनियां लद जाएंगी
और
किसी की नन्ही आंख में
पुतली-सी नाचेगी
बस जाएगी
अनगढ़ी कहानी
खूब ही खूब गढ़ी जाएगी
बस ! रात बीत जाएगी।

[पांच]

ऐ बसंत
आते हो तुम हर बार
खटखटाते हो मेरा द्वार
और
देते हो उलाहना
(कि) तुम घर पर नहीं
लौट जाते हो
किन्तु नहीं जानते तुम...
मैं किस प्रकार
हिम शिलाओं के भार तले
दबा घुटा
कुलबुल कुलबुल
अजस्र
किन्तु गुमनाम बहा जाता हूं।



एक सार्थक फ़ैंटेसी

एक चूहे की मौत

डॉ० नरेन्द्र मोहन

हिन्दी में फैंटेसी का प्रयोग कहानियों में तो हुआ है पर उपन्यास में यह प्रयोग बदीउज़्ज़माँ के उपन्यास 'एक चूहे की मौत' में शायद पहली बार हुआ है। वर्तमान मनुष्य की हालत और संपूर्ण मानव स्थिति को फैंटेसी के धरातल पर रचने और विश्लेषित करने वाला यह हिन्दी का अपने ढंग का पहला उपन्यास है।

फैंटेसी का संसार अद्‌भुत और तर्कातीत है। इसमें प्रत्यक्ष और ठोस संसार अति-कल्पनात्मक तरीकों से विस्थापित और विरूपित होकर सामने आता है। इसमें मनुष्य और मनुष्येत्तर प्राणियों के बीच, यहां तक कि जड़ और चेतन के बीच एक विचित्र रिश्ता कायम रहता है। यह रिश्ता ऊपरी तौर पर अटपटा और जादुई-सा लग सकता है पर इसकी तह में एक अनिवार्य संगति रहती ही है जिससे यथार्थ की परत-दर-परत खुलती चलती है। किसी न किसी बिन्दु से औपन्यासिक अतिकल्पना की यथार्थ से संगति और टकराव जरूरी है। जहां यह संगति और टकराव नहीं सध पाता वहां इसके संघटक तत्त्व अराजक होकर अव्यवस्था फैला देते हैं। फैंटेसी में चमत्कृत करने की जो मौलिक संभावना निहित है वह अगर यथार्थ से स्फूर्त न हुई हो तो उसके कोरे चमत्कार में बदल जाने का खतरा रहता है।

फैंटेसी, साहित्य सृजन का एक महत्त्वपूर्ण पर रपटीला रास्ता है। इस रास्ते पर चलने का साहस बहुत पहले काफ़्का ने किया था। उसने इस पद्धति का सफल और सार्थक प्रयोग किया था। उसने फैंटेसी और वास्तविकता में गहरी साझेदारी और संतुलन पैदा किया और इस माध्यम को अपने समय की सच्चाई को अभिव्यक्त करने में उसे आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त हुई। पर, उससे कम प्रतिभावान लेखकों के हाथों इसकी दुर्गति भी

कम नहीं हुई। इसे एक आसान माध्यम के रूप में ग्रहण करने से एक अजीब गोरखधन्धा खड़ा करने की छूट ले ली गयी जिससे साहित्यिक मूल्यों का अवमूल्यन हुआ। फैंटेसी की फार्म से जुड़े हुए कुछेक खतरे हैं जिन्हें इस 'फार्म' की औपन्यासिक रचना करने वाला लेखक नजरअन्दाज नहीं कर सकता। बदीउज़्ज़मा ने 'एक चूहे की मौत' में इस फार्म को, इसके सभी पहलुओं सहित, सजगतापूर्वक पकड़ने की कोशिश की है।

'एक चूहे की मौत' के औपन्यासिक विन्यास में शुरू से आखिर तक फैंटेसी के निर्वाह का प्रयत्न है, जो हिन्दी उपन्यास को देखते हुए एक नया और विशिष्ट प्रयोग ही कहा जायेगा। अति कल्पनात्मक शैली में लिखा गया यह उपन्यास कुछ विशिष्ट ढंग की प्रतिक्रियाएं जगाता है और वर्णन-प्रधान उपन्यासों को पढ़ने से निर्मित समझ और मन:स्थिति को झकझोरता है।

इस उपन्यास का अतिकल्पनात्मक विधान प्रतीकों को व्यापारों में और व्यापारों को पुन: प्रतीकों में ढालते हुए तैयार किया गया है। 'चूहों, चूहेमारों और चूहेखाने' के प्रतीकों को व्यापारों से इस तरह जोड़ा गया है कि इनके अर्थ-संदर्भ साफ-साफ झलक जाते हैं यानी फैंटेसी का पर्दा यहां सघन न होकर झीना और पारदर्शी है। ऊपर से देखने पर लगेगा कि 'चूहों' को फाइलों के, 'चूहेमारों' को सरकारी कर्मचारियों के और चूहेखाने को बड़े दफ्तर या एक व्यापक तंत्र के अर्थों में लिया गया है। पर इन प्रतीकों की मार सुनिश्चित अर्थों तक सीमित नहीं है। भाषा में व्यंग्य और व्यंजना के प्रयोग द्वारा इन अर्थों में नयी अर्थच्छवियां भी आ जुड़ी हैं। व्यापारबोधक प्रतीकों को एक-दूसरे के समकक्ष और एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य में इस तरह रखा गया है कि व्यक्ति अपनी तुच्छता और निरीहता में और व्यवस्था-तंत्र अपनी क्रूरता और भयावहता में उजागर हो जाते हैं। इन शब्द-प्रतीकों को टकराव की स्थिति में नियोजित करके प्रतीकों को धुंधला होने से बचाया जा सका है। प्रतीक को प्रभावी और ताजा बनाये रखने के लिए इनके विभिन्न अर्थों को सन्दर्भानुकूल विभिन्न अर्थ-स्तरों तक ले जाया गया है जिसे प्रतीकान्वेषण की सतत चेष्टा कहा जा सकता है।

उपन्यास के शुरू में ही लेखक—फैंटेसी की गांठ को हल्के से, इस प्रकार खोल देता है—'वह एक छोटा चूहेमार था—तीसरे दर्जे का। एक लम्बी सुरंग थी जो दिन भर अनगिनत चूहे उसके सामने उगलती रहती। वह एक-एक करके इन चूहों को मारता।' लेखक ने साधारण कर्मचारी के बारीक से बारीक ब्योरों, उनसे जुड़े व्यापारों का कथन विश्लेषण किया है। फाइल निपटाने की पूरी प्रक्रिया—निश्चित प्रणाली, नियम, कायदे-कानून, अफसरों के भाषण, कर्मचारियों के आपसी सम्बंध, पदोन्नति के लिए तिकड़में और लगी मारने के प्रयत्न, फाइल का आतंक, फाइल की पीठ पर खड़ा हुआ एक रहस्यपूर्ण व्यापक तंत्र। इन सबका चित्रण-विश्लेषण इस उपन्यास में हुआ है। प्रत्यक्षत: इस

उपन्यास में नौकरशाही का चित्रण है पर जरा गहरे झांकने पर लगेगा कि यह व्यवस्था-तंत्र को इसके पूरे मायावी रूप में—इसकी चालाकी, धूर्तता, मक्कारी, काइंयापन और क्रूरता सहित पकड़ने का प्रयत्न है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक इस तंत्र का कोना-कोना झांक आया है और इसके सूक्ष्मतम और जटिलतम ब्योरे दिये गये हैं। तंत्र के हर रंग और रूप, लय और गति, चाल और अदा की उसकी जानकारी गहरी और प्रामाणिक है। पर कुछेक स्थलों पर इतने अधिक ब्योरे आए हैं कि अनुपात और अन्विति बिगड़ गई है। चूहों, छोटे-बड़े चूहेमारों और चूहेखाने के ब्योरों का कहीं-कहीं इस कदर और इस तर्ज पर बखान किया गया है कि व्यंग्य खुलता ही नहीं। सूक्ष्म ब्योरे लेखक की पैनी दृष्टि के परिचायक हैं पर इन ब्योरों के जाल में लेखक कई जगह स्वयं उलझ गया है और इससे रचनाशक्ति क्षीण हुई है। इससे वह तभी उभर पाता है जहां विवरण और व्यंग्य का रचनात्मक विधान संभव हो सका है।

इस उपन्यास में दफ्तरी-जिन्दगी, उसे नियंत्रित करने वाले तंत्र के दबाव और उसमें पड़े हुए आदमी की दारुण स्थिति को अभिव्यक्त किया गया है। सवाल उठता है कि इसके लिए फैंटेसी का, विरूपीकरण के शिल्प का प्रयोग क्यों किया गया ? क्या यह अभिव्यक्ति सीधी और ठेठ नहीं हो सकती थी ? इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह कि जिस रूप में यह अभिव्यक्ति हुई है, उस रूप में यह ओढ़ी हुई या असंगत नहीं लगती है। उपन्यास का अतिकल्पनात्मक ढांचा व्यक्ति और तंत्र के उलझे हुए पहलुओं को उभारने में सक्षम रहा है जो शायद सीधी, ठेठ, वर्णनात्मक शैली में संभव न हो पाता। भयावह और क्रूर व्यवस्था-तंत्र, जो शरीर से आत्मा तक और व्यक्ति से समाज तक पसरा हुआ है, उसके सर्वग्रासी रूप को विरूपित करके जिस जटिल और पेचीदा यथार्थ को अभिव्यक्त किया गया है वह सीधी, ठेठ, वर्णनात्मक शैली में संभव नहीं था।

'एक चूहे की मौत' की बनावट में कोई बड़ी घटना या चरित्र नहीं है जिस पर बार-बार बल दिया गया हो। घटना और चरित्र के घात-प्रतिघात की कोई ऐसी रूप-रेखा इसमें नहीं है जैसी वर्णनात्मक उपन्यास में अनिवार्यतः होती है। कथा या चरित्र की बजाय यह उपन्यास संवेदना को केन्द्र में रख कर बुना गया ; इसी लिए इसमें परिचित कथात्मक रूढ़ियां और युक्तियां भी नहीं हैं। इसमें कथा के अत्यन्त महीन सूत्र हैं जिनकी औपन्यासिक बुनाई सधे हाथों से की गयी है। उपन्यास की मूल संवेदना को कथात्मक रूप देने वाला छोटा चूहेमार है। उसकी उधेड़बुनों, अन्तर्द्वन्द्वों, प्रतिक्रियाओं और संलापों से कथात्मक ढांचा खड़ा किया गया है। उपन्यास के 'वह' की कथा के साथ-साथ इसमें कई अन्य प्रसंगों—चित्रकार 'ग' का प्रसंग, सोनिया का प्रसंग, लड़की और 'त' का प्रसंग—को भी गूंथा गया है। ये प्रसंग व्यवस्था तंत्र में जकड़े हुए लोगों की निरीहता और अन्तर्वेदना को उजागर करने के लिए लाये गये हैं और उपन्यास की मूल संवेदना को अनेक स्तरों पर फैला देते हैं। चित्रकार 'ग' का विद्रोही व्यक्तित्व, चूहेखाने

की अवहेलना कर उसका बाहर आ जाना, उसकी विवशता और आत्महत्या, सोनिया की यातना और 'त' का व्यवस्था को चुनौती देने वाला साहस—इन प्रसंगों की योजना कथा को समृद्ध करने या किसी क्रमबद्ध कथा का हिस्सा बनाने के लिए नहीं, संवेदना के बहुविध आयामों को उभारने के लिए की गयी है।

उपन्यास के कथात्मक विधान में कुछेक प्रसंगों का विन्यास बड़ा कलात्मक तथा कौशलपूर्ण है। चित्रकार 'ग' का 'चूहेमार' शीर्षक चित्र औपन्यासिक संवेदना की दृष्टि से इस बनावट के मूल में स्थित है। उपन्यास के प्रारंभिक पृष्ठों में ही इस चित्र की ओर संकेत है। 'चित्र' का प्रसंग इस प्रकार आया है—

"तुमने चित्र तो बनाया है चूहे का और शीर्षक रखा है चूहेमार। ऐसा क्यों ?" उसने 'ग' से पूछा था।

"तुम नहीं समझ सकते। तुम्हें चूहेमार इन्सान नजर आते हैं न। इसी लिए ऐसा कहते हो। ये तो चूहे हैं चूहे", 'ग' ने उसका मजाक उड़ाते हुए कहा।

दूसरी बार 'वह' को सोनिया बताती है कि आत्महत्या करने के पूव 'ग' ने अपनी कुछ तस्वीरें बेची थीं जिनमें 'चूहेमार' शीर्षक तस्वीर भी थी। तीसरी बार इस तस्वीर का ज़िक्र उपन्यास के अन्त में आता है। 'वह' इस चित्र को चित्रकार 'प' की चित्र-प्रदर्शनी में देखता है और चिल्ला कर कहता है कि यह चित्र 'ग' का है। उपन्यास के अन्त में इस चित्र के नियोजन द्वारा कथा विन्यास एक विशिष्ट अर्थ में दमक उठता है। इतने छोटे से प्रसंग को कथा-रचना में गूंथ कर लेखक ने अद्भुत शिल्प-कौशल का प्रमाण दिया है। यह प्रसंग उपन्यास के कथा-विन्यास का ही नहीं, दृष्टिबोध और संवेदना का भी बीज-केन्द्र बन गया है।

इस चित्र के नियोजन द्वारा इस उपन्यास के कायांतरण की ओर भी प्रभावशाली पूर्व-संकेत दिये गये हैं। इस चित्र के संयोजन द्वारा पाठकों को मानसिक तौर पर कायांतरण के लिए तैयार किया गया है ताकि ऐसा घटित होना उन्हें अस्वाभाविक न लगे। वर्णन-प्रधान उपन्यासों को पढ़ने से पैदा हुई पाठकीय अभिरुचि को इस तरह के पूर्व-संकेतों द्वारा कायांतरण को घटित होते हुए देखने के लिए तैयार करना जरूरी था और यह काम लेखक ने पर्याप्त सजगता से निभाया है। वह अन्ततः चूहे में परिवर्तित हो जायेगा, इसके संकेत उपन्यास में, यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं जो संरचनात्मक दृष्टि से कायांतरण की संभावना पैदा करते हैं और उसके लिए अन्तवर्ती साक्षी जुटाते हैं। लेखक का कौशल इस बात में रहा है कि इन संकेतों को देते हुए भी परिणति संबंधी पाठकीय धारणा को स्थगित करता जाता है, सुस्थिर नहीं होने देता। लेखक एक ओर पाठकीय प्रतिक्रियाओं को रूढ़ और सुनिश्चित नहीं होने देता तो दूसरी ओर कायांतरण के संबंध में सार्थक पूर्व-संकेत भी देता है जो

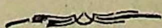
उसके औपन्यासिक विन्यास और कौशल का प्रमाण है। इस विन्यास और कौशल के कारण ही 'वह' का चूहे के रूप में देहांतरण अस्वाभाविक या आरोपित नहीं लगता बल्कि उपन्यास में से स्वत: उभरता है। काफ़्का की कहानी 'कायांतरण' से इस उपन्यास की कायांतरण पद्धति की ऊपरी समानता को लक्षित करके इसे नकली या आरोपित करार दिये जाने का कोई आधार नहीं है। लेखक ने कायांतरण पद्धति को परिपुष्ट और संगत बनाने के लिए दो प्रसंगों का खास तौर पर हवाला दिया है। एक है मुसलमान फकीर शाह दौला का प्रसंग जिसमें चूहों के संसर्ग में आने पर बच्चे चूहे बन जाते हैं और दूसरा है काकभुशुंडि का प्रसंग जो लोमष ऋषि के अभिशाप से कौआ बन गया था। उपन्यास का 'वह' भी चूहों के सान्निध्य में इन्सान से चूहेमार बनता है और फिर चूहे के रूप में उसका रूपान्तरण हो जाता है। 'वह' चूहा बन कर घिसटता-रिरिआता है, यद्यपि सोचता विचारता मनुष्य के समान है। उसकी स्थिति काकभशुंडी जैसी है। लेखक ने पुराण तथा पंचतंत्र के कथा-प्रसंगों को उपन्यास के रचना-विधान में गूंथ कर भयावह और क्रूर तंत्र के संदर्भ में मनुष्य की अमानवीय होती जा रही मानव स्थिति के यथार्थ का बोध कराया है। फैंटेसी और यथार्थ की ऐसी अन्तर्भेदिनी समायोजना उपन्यास जैसे बड़े फलक पर अन्यत्र मिलनी कठिन ही है।

इस उपन्यास में कथा-विन्यास, चरित्र-चित्रण और संवेदना इस कदर घुले-मिले हुए हैं कि उन्हें अलगाया नहीं जा सकता। कथा के सारे महीन तन्तु चरित्रों से आन्तरिक और अनिवार्य तौर पर जुड़े हुए हैं। कथा-चरित्रों का अन्त: गुंफन एक केन्द्रीय सवेदना के अन्तर्गत किया गया है। संवेदना नाभिक केन्द्र है जहां कथा और चरित्र की रेखाएं आकर मिल गयी हैं। यहां चरित्र जैसी कोई ठोस विशिष्ट इकाई नहीं है, इसी लिए यहाँ परम्परागत ढंग की चारित्रिक योजना भी नहीं है। एक चरित्र दूसरे में घुलता गया है, दूसरा तीसरे में और इस तरह एक ही चरित्र का अन्तर्वर्ती साक्ष्य विभिन्न रूपों में उभरता गया है। सूक्ष्म अर्थच्छायाओं की भिन्नता के साथ 'ग' का 'त' में और 'ग' 'त' का 'वह' की चेतना में पर्यवसान इस उपन्यास के चारित्रिक विधान की बुनियादी धुरी है। पात्रों का नामहीन होना भी इसी सूक्ष्म की ओर संकेत करता है। यों उपन्यास में तीन मुख्य पात्र हैं—उपन्यास के 'वह' के सामने चूहे मारने के सिवा अन्य कोई रास्ता नहीं है। वह जानता है चूहेखाने से निकल कर कोई भी चैन से नहीं रह सकता। 'चूहे मारो या भूखों मरो' के अलावा उसके लिए अन्य कोई विकल्प नहीं। दूसरी ओर है उसका मित्र चित्रकार 'ग' जो बड़े चूहेमारों को खरी-खरी सुनाता है, व्यवस्था को नकारता है और अपने साथी चूहेमारों की कड़ी आलोचना और भर्त्सना करता है—'तुम सब चूहे मारते-मारते खुद भी चूहे बन गये हो।' 'तीसरी ओर है व्यावसायिक चित्रकार 'प' जो तस्वीरें नहीं बनाता, चूहे मारता है।' एक ओर है व्यवस्था तंत्र से घबड़ाया हुआ, बेचैन और निरीह छोटा चूहेमार (उपन्यास में जिसकी स्थिति आधा तीतर आधा बटेर जैसी है), दूसरी ओर है

चित्रकार 'ग' जो व्यवस्था को चुनौती देता है और जिस दिन अपनी तस्वीरों को बेचता है उसी दिन स्वयं को बिका हुआ महसूस करके आत्महत्या कर लेता है। तीसरी ओर है व्यवस्था से चिपका हुआ, उसे पुख्ता बनाने वाला, उससे लाभ उठाने वाला चित्रकार 'प'। 'प' जैसा घोर व्यावसायिक चित्रकार (जो चित्रकार के छद्म रूप में चित्रों का व्यापार करता है) जहां एक ओर 'ग' की आत्मिक हत्या ('ग' की आत्महत्या केवल शारीरिक स्तर पर नहीं, मानसिक और आत्मिक स्तर पर भी है) करता है वहीं छोटे चूहेमार (जिसका चूहे के रूप में देहांतरण हो चुका है) को सच कह देने के दंड स्वरूप आग के हवाले कर देता है। कुछ पात्र उपन्यास में प्रत्यक्षत: नहीं आये हैं पर उनकी भूमिका असंदिग्ध है। 'त' उपन्यास में सीधा नहीं आता पर उसकी प्रेमिका लड़की उसके चरित्र को मानस प्रत्यक्ष कर देती है और वह भी उपन्यास के त्रासद अनुभव का जीता जागता अंग बन जाता है। 'ग' की प्रेमिका सोनिया और 'त' की प्रेमिका लड़की (जो शरीर बेचने पर बाध्य होती है) भी तंत्र के क्रूर और निर्मम शिकंजे में जकड़ी हुई चरित्र-सृष्टियां हैं और उपन्यास की संवेदना को ठोस संदर्भ देती हुई नाभिक केन्द्र में गति भर देती हैं।

उपन्यास का 'वह' और चित्रकार 'ग' एक ही चरित्र है या ज्यादा से ज्यादा एक ही चरित्र के दो रूप हैं। मानसिक तथा आत्मिक-स्तर पर यह एक ही चरित्र है। उपन्यास का 'वह' एक स्थल पर सोचता भी है—"शायद उसके अन्दर भी एक 'ग' था जो मर चुका है पर जो मुझे अब भी आकृष्ट करता है" ·····'ग' के प्रति जो लगाव वह महसूस करता है उसका केन्द्र बिन्दु शायद वह स्वयं है, 'ग' नहीं। 'ग' उसके मन की मरती हुई आकांक्षा का ही प्रक्षेपण है। 'ग' के प्रति उसका आकर्षण और लगाव, प्रकारान्तर से, उसका अपनी मूल विद्रोही वृत्ति के प्रति आकर्षण और लगाव है। 'ग' में उसे शायद वह सब नजर आता था जो वह स्वयं बनना चाहता था लेकिन बन नहीं सका था। चूहे मारने के कार्य को अंतिम रूप से उसने स्वीकार नहीं किया था। पहले भी वह न पूरा चूहेमार था और न पूरा 'ग'। पर 'ग' की आत्महत्या उसे विद्रोह के लिए प्रेरित करती है, उसकी आत्मा में एक छटपटाहट भर देती है। उसके अन्दर का 'ग', उसके अन्दर का विद्रोही जाग उठता है। वह चित्रकार 'प' से भिड़ जाता है। 'प' की चित्र-प्रदर्शनी में 'ग' के चित्रों को देख कर वह चीख उठता है—"ये चित्र 'ग' के हैं 'प' के नहीं। 'प' चोर है।" उसकी आवाज में बेलौस सच्चाई गूंज उठती है। उसके लिए मौत का डर खत्म हो जाता है। उसकी चेतना में 'ग' उतर आता है। "उसे लगता है कि सदियों का बोझ उसने अपने ऊपर से उतार फेंका है और अब वह सिर्फ 'ग' रह गया है जो मर कर भी अमर है।" जिस तरह 'ग' अपमान के मुकाबले मौत चुनता है उसी तरह 'वह' भी मौत का चुनाव करता है। चरित्रों का इस ढंग का सन्निधान उपन्यास की प्रभावोत्पादकता कई गुणा बढ़ा देता है।

उपन्यास के अन्त के संबंध में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि उपन्यास की परिणति जिस रूप में हुई है, उसका आशय क्या है और वह लेखक की जीवन सम्बन्धी दृष्टि को किस स्तर पर प्रतिफलित करने में समर्थ है ? उपन्यास के अन्त में 'वह' का असतोष और छटपटाहट अपनी चरम सीमा पर है। उसकी मनःस्थिति अपने 'होने' पर सोचने और अपने अस्तित्व की पहचान में बराबर जुटे रह कर विद्रोह करने जैसी है। प्रश्न उठता है कि उसका इस ढंग का विद्रोही रवैया, अपने अंतिम विश्लेषण में, वैयक्तिक या आत्मिक स्तरों पर अनुभूत विद्रोही ही है। इस विद्रोह की प्रकृति अपने मूल रूप में और अपनी परिणति में अस्तित्ववादी ही है। लेखक विद्रोह को अस्तित्व की बुनियादी आवश्यकता के रूप में उठा रहा है, सामाजिक आवश्यकता के रूप में नहीं। लेखक विद्रोह को क्रान्ति के कारगर हथियार के रूप में नहीं ग्रहण कर रहा बल्कि भयावह तंत्र के सामने अस्तित्व के एक मात्र विकल्प के रूप में ग्रहण कर रहा है। 'ग' के लिये यह विकल्प, तंत्र के सर्वभक्षी रूप के सामने, आत्महत्या का है, 'त' के लिए व्यवस्था तंत्र को तोड़ने की कोशिश करते हुए स्वयं तड़प-तड़प कर जान दे देने का है और 'वह' के लिए जिन्दगी-भर घिसटते-रिरिआते रहने के बाद भी बचे रहने वाले विद्रोह का है। व्यवस्था से टकराते हुए सभी का अंजाम मौत होता है। उपन्यास के अन्त की कुछेक पंक्तियां इस प्रकार हैं—'फिर एक जन्नाटे की आवाज़ के साथ उसने महसूस किया कि शोलों ने उसे चारों ओर से घेर लिया है। शोलों की सुर्ख धधकती जबान उसके शरीर को चाट रही है। लेकिन इस घोर यंत्रणा के बीच भी उसे महसूस हुआ जैसे सदियों से जमी हुई मैल उसके मन और शरीर से उतरती चली जा रही है और अब वह अपनी आत्मा को देख सकता है जो आइने की तरह स्वच्छ और निर्मल है।' यह अन्त अपने स्वभाव में ही नहीं तर्जेबयां में भी अस्तित्ववादी है। उपन्यासकार को लगता है कि आज की स्थितियों में तंत्र के क्रूर पंजे में मानवीय अस्मिता को निजात दिलाने के लिए अपने बूते भर विद्रोह ही एकमात्र रास्ता है, शेष सभी दायें-बायें के रास्ते हैं, अन्ततः चूहे में तब्दील हो जाने वाले। लेखक विद्रोह को जीवन स्थितियों से निष्पन्न मानवीय सरोकार के बुनियादी विकल्प के रूप में ग्रहण करना चाहता है, किसी सामाजिक दर्शन या सामाजिक संकल्प के रूप में नहीं। लेखक के इस चिंतन की उपयुक्तता-अनुपयुक्तता पर प्रश्न-चिह्न लगाये जा सकते हैं पर यह चिंतन उपन्यास में रचना का अंतर्भूत तर्क बन कर उभरा है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। उपन्यास के अन्त में यह चिंतन अकस्मात नहीं आ गया, इसकी उपस्थिति औपन्यासिक रचाव में निरन्तर बनी रही है।



चौराहे बांटते नहीं

विजय कुलश्रेष्ठ

विज्ञापनी मुद्रा में खोते हुए मद
अब और कहां तक जा पायेंगी
हमारी-तुम्हारी दिशाएं
सच आगे के सभी रास्ते हैं
अब बन्द
और पीछे लौटने की गुंजाइश
निकालने वाला वक्त जा चुका है
हमसे बहुत दूर
अब चौराहे पर बुझती रोशनियों की तरह
हम अपने भूत-भविष्यत् को
अंगोछते रहेंगे अहर्निश
विश्वास टूटने की स्थिति तक
पहुंचते-पहुंचते
खुद ही बदल जायेंगे
और पनाह बांटते हुए चंद नकाब
अपनी बेवफाई तक
उगलने लगेंगे अन्तर्निहित सत्य
बस, रुको और हो जाओ प्रतीक्षित
चौराहे बांटते नहीं, जोड़ते हैं हमें
चाहे टूटते रहे हों कल तक हम
आज की सोचने से पहले अब
चलो सोने योग्य तो हो लें.



कश्मीरी सूफियाना संगीत

अवतार कृष्ण राज़दान

"संगीत में एक ऐसी शक्ति है जिससे सूखी हुई हरियाली में नव-बहार आ जाती है, जीव-जन्तु मोहित हो जाते हैं तथा अदृश्य देवी-देवता वनों में प्रकट होकर खुशी के गीत गाते हैं। संगीत हरेक के दुःख-सुख में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, बुद्धिमान हो या नादान, स्थायी खुशी प्रदान करता है। काश, यही संगीत मेरा साथ हर समय देता।[1]

—बडशाह

कश्मीरी संगीत की परंपरा प्राचीन है। इसमें यहां की गगनचुम्बी पर्वतमालाओं की अनुगूंज है। इनके दामन में बहती हुई नदियों की लय, झीलों और झरनों का रोमांच, गुनगुनाती हवाओं की सिहरन तथा रंगारंग फूलों का सौंदर्य है। किन्तु इन सबसे बढ़ कर इसमें प्रेमी-हृदयों के मिलन का सुख तथा विरही के वियोग का दर्द है जिसके फलस्वरूप यह न सिर्फ कश्मीर में, बल्कि कश्मीर के बाहर भी लोकप्रिय होता जा रहा है।

यह सत्य है कि गत् कई वर्षों से कश्मीरी-संगीत पर शास्त्रीय-संगीत का अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा है, फिर भी इसकी एक प्रमुख धारा अभी भी सुरक्षित है। इस धारा का नाम है 'कश्मीरी सूफियाना संगीत', जिसको कश्मीरी में 'सूफियाना-कलाम' कहते हैं। 'सूफियाना' का अर्थ है सूफियों[2] द्वारा विरचित। 'कलाम' बोल को कहते हैं। यानी वे बोल जो सूफियों द्वारा गाये जायें, सूफियाना-कलाम कहलाते हैं। इन बोलों का विषय अध्यात्मवाद पर आधारित होता है तथा इन्हें लय-ताल के साथ गाया जाता है।

कश्मीर में सूफियाना-संगीत का इतिहास मुसलमानों के आगमन के साथ शुरू होता है। मुसलमानी नरेशों के राज्यकाल में ही यहाँ सूफियों ने ईरान और तूरान से प्रवेश किया

---

१. श्रीवर कृत ज़ैन राजतरंगिणी।
२. कश्मीरी में 'सूफ' पशमीना ऊन को कहते हैं तथा 'सूफी' उन मुसलमान संतों को कहा जाता है जो इसी ऊन से बनी चादर को ओढ़ते हैं।

तथा अपनी एक विशेष लय में भक्ति-भावना पर आधारित गीतों का गायन किया। बाद में ये गीत यहां बहुत लोकप्रिय हो गये। धीरे-धीरे यह संगीत-प्रणाली यहां के मुस्लिम राजाओं के दरबार की शोभा बनी। बडशाह के राज्यकाल में इस संगीत-धारा का अभूत-पूर्व विकास हुआ। कहा जाता है कि इन्हीं के राज्यकाल में सूफियों ने यहां प्रवेश किया।[3] इनके दरबार में जहांगीर मागरे नामक एक सकुशल सूफियाना संगीतकार हर समय मौजूद रहते थे। चकों तथा मुगलों के राज्यकाल में भी इस संगीत-धारा की महफिलें जमती रहती थीं। यूसुफशाह 'चक' की पत्नी हब्बाखातून कश्मीरी सूफियाना संगीत की एक कुशल संगीतशास्त्री थीं। इनको इस संगीत-प्रणाली में 'रास्ते-कश्शीर' नाम से एक नये मकाम की उत्पत्ति करने का श्रेय प्राप्त है। सम्राट अकबर के शाही दरबार में हिन्दुस्तानी संगीतकारों के अतिरिक्त ईरानी, तूरानी तथा कश्मीरी संगीतशास्त्री हर समय मौजूद रहते थे। सम्राट ने इनका विभाजन सात भागों में किया था और प्रत्येक भाग के संगीतशास्त्री अपनी सगीत-कला का प्रदर्शन इनके सामने नियमित रूप से करते थे। इनमें कश्मीरी संगीतकार सम्राट के सामने प्रायः सूफियाना संगीत के मकाम ही गाते थे।[4] मुगलों के बाद यहां सूफियाना-संगीत अपने मूल रूप में नहीं रहा। आजकल यहां जिस प्रकार का सूफियाना-संगीत गाया-बजाया जाता है, उसमें अरबी और ईरानी संगीत के कुछ मकामों का सम्मिश्रण पाया जाता है। फिर भी इसमें अपना एक आकर्षण है, रस तथा माधुर्य है।

कश्मीरी सूफियाना-संगीत तथा शास्त्रीय-सगीत में काफी अन्तर पाया जाता है। शास्त्रीय-सगीत में अन्य गाने वाले मूल गायक के साथ नहीं गाते, जबकि सूफियाना-संगीत में यह बधन नहीं। इसमें अन्य गायक मूल गायक के साथ आसानी से गा सकते हैं। शास्त्रीय-संगीत में गायक अकेले भी गा सकता है, लेकिन श्रोता सूफियाना-संगीत का रस तभी ग्रहण करते हैं जब यह साथियों के साथ गाया जाये। कहा जाता है कि शुरू-शुरू में यहां सूफियाना-संगीत 'हाफ़िज़ नगमा'[5] के साथ गाया-बजाया जाता था। उस समय इस नृत्य प्रणाली के द्वारा ही इसके बोल श्रोताओं को अच्छी प्रकार समझ में आते थे। आज-कल यह नृत्य के बिना भी गाया-बजाया जाता है।

कश्मीरी सूफियाना-संगीत के बोल प्रायः फारसी में ही होते थे। लेकिन समय के परिवर्तन के साथ कश्मीरी कवियों ने भी इसके विभिन्न मकामों के अनुरूप कश्मीरी गीतों की रचना की है जो यहां बहुत लोकप्रिय हो गये हैं। कहा जाता है कि ईरान के मशहूर सूफियाना संगीतज्ञ मुल्ला जाफरन ने पहली बार फारसी गीतों के साथ-साथ कश्मीरी गीतों को सूफियाना-संगीत में गाने का समारम्भ किया। तब से कई कश्मीरी गीतों को इसके

३. A A, Blochman, p. 68
४. 'Kashier' by Dr M. D. Sufi, p 553.
५, एक प्रकार का कश्मीरी नृत्य।

मकामों के अनुरूप गाये जाने से इस संगीत-कला में एक नया निखार-सा आया है। इस संगीत-प्रणाली में केवल तीन वाद्य बजाये जाते हैं। साज़े कश्मीरी, कश्मीरी सितार और तबला। इन्हीं तीन वाद्यों से सूफियाना-संगीत की महफिलें जमती हैं।

सूफियाना-संगीत की आत्मा को 'मकाम' कहते हैं। शास्त्रीय-संगीत में इसको 'राग' कहते हैं। सूफियाना-संगीत का गायन करने से पूर्व संगीतशास्त्री के लिए इसके मकामों की जान-पहचान करना अनिवार्य होता है। इसके बिना सूफियाना-संगीत की सभाओं में भाग लेना मुश्किल है। इस संगीत-प्रणाली के विशेष मकामों की संख्या १७ है, जिनका नाम इस प्रकार है[६]—इशाक, नवा, इराक, हुसैनी, बौसलीक, हिजाज़, ज़ंगोला, सेफहान, रास्त, रहावी, कोचक और बज़ुर्ग। कहा जाता है कि इनमें से पांच मकामों का पांच पशु-पक्षियों की आवाजों से संबंध है[७]। इन मकामों के नाम इस प्रकार हैं—

१. इराक—गाय की आवाज़ से।
२. हुसैनी—बुलबुल की आवाज़ से।
३. नवा—घोड़े की आवाज़ से।
४. बौसलीक—सिंहनी की आवाज़ से।
५. रहावी—कौए की कांव-कांव से।

सूफियाना-संगीत का अस्तित्व वस्तुत: छ: ध्वनियों पर आधारित है। इनमें से प्रत्येक ध्वनि 'आहंग' या राग पर निर्भर है।[८] कुछ उदाहरण—

१. सलमक—इसफान, ज़ंगोला।
२. दोरिगरदान—अशाक, रास्त।
३. नवरोज़िसभा—बौसलीक, हुसैनी।
४. कौविश्त—हिजाज़, नवा।
५. मोशत—कौचक, इराक।
६. शाहनाज़—रहावी, बुजर्ग।

शास्त्रीय-संगीत के राग-रागनियों की तरह सूफियाना-संगीत के मकामों का अपना प्रभाव, रस एवं माधुर्य है। कहा जाता है कि इन मकामों के गाये जाने से रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। ऐसे कुछ मकाम इस प्रकार हैं—

१. हुसैनी—यह बदन की गर्मी दूर करता है।
२. नवा—यह मन की परेशानी दूर करता है।

---

६. शेख अब्दुल अज़ीज़ कृत 'कोशुर-सरगम', भाग १, पृ० ११.
७ वही, भाग १, पृ० १२.
८. वही, भाग १, पृ० १३.

३. कोचक—यह दिल का रोग दूर करता है।

४. बौसलीक—यह सिरदर्द दूर करता है।

५. रहावी—लकवे से पीड़ित रोगी का इलाज।

६. रास्त—दमा के रोगी का इलाज।

उपरोक्त मकाम शास्त्रीय-संगीत के ही समान देश-काल को ध्यान में रखकर गाए जाते हैं।

कश्मीरी संगीत शास्त्रियों के अनुसार सूफियाना-संगीत के हर मुकाम पर दो-दो उपमकाम निर्धारित हैं। इनका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—

१. हुसैनी—दुगाह, मजीरी।

२. बौसलीक—इशीरान, नौरोज़िसभा।

३. नवा—नवरोज़िखारा, माहूर।

४. रहावी—नवरोज़िअरब, नवरोज़िअज़म।

५. ज़ंगोला—चारगाह, अज़ाल।

६. अशाक—जवाल, ओज।

७. कोचक—ज़ल्ब, बयाकी।

८. रास्त—मबरक, पंचगाह।

९. हजाज़—सेगाह, हेसार।

१०. सेफान—नेरेज़, नशापोरक।

इस प्रकार सूफियाना-संगीत में १२ विशिष्ट मकाम तथा २४ उपमकाम या आहंग पाये जाते हैं।[६] यहां के कई संगीतकारों में सूफी-संगीत के मकामों एवं उपमकामों की संख्या को लेकर मतभेद है। कुछ इनकी संख्या छत्तीस[१०], कुछ पच्चास[११] तथा कुछ चौवन[१२] बताते हैं। इनकी मूलसंख्या के संबंध में वस्तुतः निश्चित-रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। आजकल सूफियाना-संगीत नाममात्र मकामों के अनुरूप ही गाया-बजाया जाता है। इनमें से अधिकांश मकाम शास्त्रीय संगीत के राग-रागनियों के नाम से मशहूर हैं यथा भैरवी, ललित कल्याण आदि। इन राग-रागनियों का उल्लेख ईरानी-संगीत पर रचित कुछ पुस्तकों में भी मिलता है।[१३]

---

९. शेख अब्दुल अज़ीज़—'कोशुर सरगम', भाग १, पृ० १३.

१०. Kaumdi—'Kashmis-it's Cultural Heritage' पृ० १०५.

११. शेख अब्दुल अज़ाज़—'कोशुर सरगम', भाग १, पृ० १३.

१२. Hassan—'Kashmir Under Sultans' पृ० ९३.

१३. मिर्ज़ा हैदर बहरुल्लाम—पृ० १०५.

सूफियाना-संगीत जिन विशेष तालों के अनुरूप गाया-बजाया जाता है, उनका जन्म वस्तुः ईरानी संगीतधारा से हुआ है। इसमें आजकल जिन तालों का प्रचलन है, वे इस प्रकार हैं—यकताल, दुयक, दुरोई, नीमसकील, समावी, खाफिस, चपअंदाज़, नीमदुरोई, चम्बर, मखमस, सकील, तुर्कजर्ब, जर्बेफाखता, दुरफशान, दुरशाही, रवानी, हिजाज़ आदि। इनमें से कई तालों का प्रयोग शास्त्रीय संगीत में भी होता है।

सूफियाना-संगीत में गीतों का गायन अलाप से शुरू होता है जिसको कश्मीरी में 'ह्वराय' कहते हैं। शास्त्रीय संगीत के विभिन्न राग-रागिनियों की तरह सूफियाना-संगीत के गाने का समय भी निश्चित है। समय के अनुरूप ही गीतों का गायन विभिन्न मकामों में किया जा सकता है। फारसी तथा अरबी गीतों के अतिरिक्त इसमें अब कश्मीरी गीत भी गाये-बजाये जाते हैं। ये गीत प्रायः यहां के मशहूर कवियों यथा लल्लद्यद, अरनिमाल, महमूदगामी, हबीब उल्लाह नवशेरी तथा कृष्ण जू राजदान के होते हैं। इनके गीतों का वर्ण्य-विषय प्रायः अध्यात्मवाद, आशिक-माशूक, संयोग-वियोग और श्रृंगार आदि है।

कश्मीर में बडशाह के राजत्वकाल से अब तक सूफियाना-संगीत के कई उस्ताद हुए हैं। इन्होंने इसमें समय-समय पर तरह-तरह के प्रयोग किये हैं। बहुत खोज के बाद मुझे इन संगीतकारों के नामों का पता चला है—मिर्ज़ा अकमल बदखशां, ख्वाजा हबीब उलाह नवशेरी, शेख याकूब सर्फी, ख्वाजा हबीब उल्लाह 'अत्तर', मोहम्मद खलील मोहम्मद, मोहम्मद सिद्दीक, मौलाना शम्सुद्दीन, हिरात कामिली, रमज़ान जू, मोहम्मद सुलतान, अली मोहम्मद डार, काज़ी गुलाम नबी, बलकाक, निरंजन नाथ, दोस्त सेतारी, मोहम्मद इकबाल मटहॉज़, श्याम लाल केलम, गुलाम नबी भट्ट आदि।

कश्मीरी सूफियाना-संगीत का भविष्य क्या है? यह संगीत-प्रणाली आगे की पीढ़ियों के संगीतकारों तक पहुँच सकती है या नहीं? ये प्रश्न आजकल हर किसी के मन-मस्तिष्क में चक्कर काटते हैं। यह सत्य है कि गत ६०० वर्षों से इसमें यहां के संगीतकारों ने तरह-तरह के प्रयोग किये हैं और यह उन्हींकी संगीत-साधना के फलस्वरूप आजतक किसी-न-किसी रूप में जीवित रहा है। किंतु इसकी आजकल जो स्थिति है, उसको देख-कर लगता है कि इसका भविष्य अंधकारमय है। यहां के नवोदित संगीतकार इस संगीत-प्रणाली के विकास के प्रति विशेष जागरूक नहीं हैं। श्रोता भी प्रायः इसके प्रति कोई रुचि नहीं लेते।

कश्मीर में सूफियाना-संगीत को आगे की पीढ़ियों के संगीतकारों तक पहुंचाने के लिए इस समय यहां कुछ संगीतकार कार्यरत हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इन्होंने इस कला से न केवल लोगों का मनोरंजन ही किया, बल्कि नवोदित कलाकारों को व्यवस्थित रूप से इसका प्रशिक्षण भी दिया। इस समय सूफियाना-संगीत प्रणाली को विकसित करने का श्रेय इन कलाकारों को प्राप्त है—गुलाम अहमद कालीनबाफ, मोहम्मद अब्दुल्ला तिब्बतबकाल, मोहम्मद सुलतान मोर, शेख अब्दुल अज़ीज़ आदि।

तुम्हारे मोह से बंधकर

तारादत्त निर्विरोध

शहर जो तुमसे मिला था, उसे लौटा रहा हूं मैं ;
यही सुख कौन कम है अब यहां से लौट जाने में !

तुम्हारे मोह से बंधकर
तुम्हारा हो गया था मैं,
तुम्हारे रंग ऐसे थे
उन्हीं में खो गया था मैं,

गंध जो तुमसे मिली, उसे लौटा रहा हूं मैं ;
इसे तुम कांच में मढ़कर सजा लो रिक्त खाने में !

कहीं कुछ था, उसी से हम
जुड़े थे टूट जाने को,
हमारे हाथ बंधकर भी
विवश थे छूट जाने को,

तुम्हारे रूप तक आकर, परे ऐसे रहा हूं मैं ;
अलग-सा एक दर्पण हो किरण के शामियाने में !

चलो, अच्छा हुआ यह क्रम
न आगे और चल पाया,
भला यह कौन कम है
दर्द को हमदम न मिल पाया,

तुम्हारी बांह गहकर भी रहा हूं इस तरह से मैं ;
उमर का एक कैदी हो खशी के कैदखाने में !

भगवान् महावीर का अनेकान्तवाद: आधुनिक सन्दर्भ में

डॉ० निज़ाम उद्दीन

अनेके अन्ताः धर्माः यस्मिन् स अनेकान्तः —अनेक धर्मों के कारण प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप में विद्यमान है। एक ही पदार्थ में पाई जाने वाली विशेषताएं नाना रूप में होती हैं; लेकिन हैं सत्य और यथार्थ। पदार्थों की अनेकविध विशेषताओं का सम्यक् या समन्वयात्मक प्रतिपादन का सिद्धान्त अनेकान्तवाद कहा जा सकता है। चाहे मटीरियल पदार्थ हों, चाहे नॉन-मटीरियल पदार्थ हों, सभी जड़-चेतन पदार्थों में अनन्त गुण, धर्म और शक्तियां मौजूद हैं। पदार्थ चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, है वह अतुलित शक्ति से संयुक्त। क्या सूक्ष्म, लघु एटम अपार शक्तिपुंज नहीं? परमाणु शक्ति के द्वारा अज्ञात रहस्यों का—अवनी-अम्बर के गुप्त-गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया जा रहा है; चाहे बुधग्रह हो, चाहे मंगलग्रह हो, चाहे विधुग्रह हो और चाहे भूगर्भ में छिपे अदृश्य परिवर्तन हों। एक एटम से क्षणभर में देश के देश विध्वंसित किये जा सकते हैं। आज परमाणु शक्ति के द्वारा रडार, बिजली-घर आदि का सहजतः संचालन किया जा रहा है। १५ अगस्त के राष्ट्रीय पर्व को परमाणु-शक्ति की सहायता से दूर-दूर तक टी० वी० पर देखा गया। कहने का अभिप्राय यह कि सभी पदार्थ अनन्त गुणों से आपूरित हैं और इन गुणों को सापेक्षता में परखा जा सकता है; विभिन्न दृष्टिकोणों से उन्हें हृदयंगम किया जा सकता है। जैसे बिजली से जहां आलोक प्राप्त कर तिमिरावरण को विदीर्ण किया जाता है, वहां उसी बिजली का करन्ट लगने पर प्राणों से हाथ भी धोना पड़ता है। अग्नि से नानाविध व्यंजन तैयार किये जाते हैं, शीत ऋतु में उससे उष्णता प्राप्त होती है लेकिन वही अग्नि घर को जलाकर राख भी कर देती है।

अनेकान्तवाद अर्हद्दर्शन का निचोड़ है, यह एक ऐसी विचार-पद्धति है जो लोकाभिमुख है तथा सत्यावलम्बित है। इसे महावीर की सत्य-शोधित पद्धति या सत्य-प्रकाशन शैली कहा जा सकता है। उन्होंने अनेकान्तवाद के द्वारा ही व्यष्टिपरक एव समष्टिपरक जीवन

की भौतिक, व्यावहारिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार की समस्याओं का सम्यक् अहिंसात्मक समाधान प्रस्तुत किया है। आज के इस भौतिक और तर्कप्रधान युग में दुराग्रह सत्यान्वेषण के मार्ग में भारी अड़चन पैदा करता है। दुराग्रह की कुहेलिका को विच्छिन्न कर सत्यालोक की प्राप्ति अनेकान्तवाद द्वारा ही संभव है। दुराग्रह अहंकारगर्भित होने के कारण उपेक्षणीय एवं अग्राह्य हो जाता है, जबकि अनेकान्तवाद औदार्यगर्भित होने के कारण सहिष्णुता से परिपूर्ण होने के कारण ग्राह्य है, स्वीकार्य है। अनेकान्त में तो वस्तुओं के, प्रश्नों के, समस्याओं के अनेक अन्त हो सकते हैं, एक ही अन्त या निदान नहीं हो सकता, उससे यही ध्वनित होता है। यह समदृष्टि का—उस समदृष्टि या समन्वयात्मक भावना का परिसूचक है जो भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशिष्टता है। महावीर का अनेकान्तवाद सभी प्रकार के अन्तर्विरोधों का पर्युच्छेदन करने वाला है। उसमें लोकसंग्रह एवं समतावादी भावना का प्राबल्य है, उसे हम सर्वधर्मसमभाव या धर्मनिर्पेक्षता का साकारित रूप कह सकते हैं। आज भारत में जो साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, स्वार्थान्धता से सकल वातावरण विषाक्त हो रहा है, राजनैतिक मताग्रह एवं स्वार्थलिप्सा के कारण विश्व वायुमण्डल द्वन्द्व, संघर्ष, रक्तपात से दूषित, कलंकित तथा पर्याविल है ; वह इसी कारण कि मनुष्य में अनेकान्तवादी दृष्टिकोण का लोप हो गया है। नहीं तो क्या दो दशकों की वियतनाम और मध्यएशिया की खून से रंगी समस्याओं का सहृदयतापूर्वक, सर्वमान्य समाधान नहीं खोजा जा सकता था ? क्यों वहां तोपों को निर्बाध रूप में आग उगलनी पड़ती ? विध्वंसक विमानों को क्यों बमवर्षा करनी पड़ती ? क्यों मासूम बच्चों के मासूम रक्त से, नृशंस नरसंहार से भूमि रक्त से रंग जाती, दिशाएं लाल हो जातीं और स्त्रियों की करुण चीत्कार से गगनांगन क्यों विकम्पित होता ? यदि हमें राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाना है, भावात्मक एकता की नींव मजबूत करनी है, सामाजिक, धार्मिक, भौतिक दृष्टि से समुन्नत होना है और विश्व को तृतीय महायुद्ध की विभीषिका से त्राण दिलाना है—सर्वसंहार से बचाना है तो शलाकापुरुष महावीर के अनेकान्तवाद को अंगीकार करना होगा, उनकी इस मौलिक, वैचारिक क्रान्ति को—नई सूझबूझ को स्वीकार करना होगा, उनकी इस अभिनव सांस्कृतिक देन को समझना होगा—पल्ला पसार कर ग्रहण करना होगा। महात्मा गांधी ने अनेकान्तवाद के विषय में ठीक ही कहा था—"मेरा अनुभव है कि अपनी दृष्टि से मैं सदा सत्य होता हूं, किन्तु मेरे ईमानदार आलोचक तब भी मुझ में गलती देखते हैं। पहले मैं अपने को ही सही और उन्हें अज्ञानी मान लेता था किन्तु अब मैं मानता हूं कि अपनी-अपनी जगह हम दोनों ठीक हैं। कई अंधों ने हाथी को अलग-अलग टटोल कर उसका जो वर्णन किया था वह दृष्टान्त अनेकान्तवाद का सबसे अच्छा उदाहरण है। इसी सिद्धान्त ने मुझे यह बतलाया कि मुसलमान की जांच मुस्लिम दृष्टिकोण से तथा ईसाई की परीक्षा ईसाई दृष्टिकोण से की जानी चाहिए। पहले मैं मानता था कि मेरे विरोधी अज्ञान में हैं। आज मैं विरोधियों की दृष्टि से भी देख सकता हूं। मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का परिणाम है"।

'धम्मोवत्थुसहावो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। प्रत्येक वस्तु अनेकधर्मी होती है, उसकी अनेक भूमिकाएं होती हैं। उपयोगिता की दृष्टि से उसमें भेद संलक्षित होते हैं जबकि अस्तित्व की दृष्टि से उसमें साम्य और ऐक्य है। वस्तु की एकरूपता का दुराग्रह त्यागकर उसकी अनेकरूपता का प्रतिपादन करना ही अनेकान्तवाद है। इस समय रात भी है और दिन भी ; देखने में ज़रूर विरोधाभास लगेगा, लेकिन समझने पर इसकी पूर्ण सत्यता से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। जैसे लंदन में यदि रात के दो बजकर दस मिनट हुए हों तो भारत में प्रात: के ६ बजकर ४० मिनट होते हैं। दिल्ली के यमुना पूरब में है, लेकिन वही यमुना गाज़ियाबाद के पश्चिम में है। सोना एक पदार्थ है, लेकिन अंगूठी के रूप में, कर्णफूल के रूप में, कंगन के रूप में, नेक्लेस के रूप में उसके गुण कई एक हैं। कई रूपों में उसकी उपयोगिता स्पष्ट है। अंधे व्यक्तियों का हाथी के पैर, पेट, कान, सूंड को हाथी समझ बैठना भले ही असत्य माना जाये, लेकिन हैं तो वे सभी हाथी के अंग, जिनका हाथी से भिन्न कोई अस्तित्व नहीं। फलत: सभी अंधे व्यक्ति सत्यांश के सन्निकट हैं। श्रीमती इन्दिरागांधी भारत की प्रधानमंत्री ही नहीं हैं, वह एक माता भी हैं, एक दादी भी हैं और पं० नेहरू की सुयोग्य पुत्री भी हैं। उनके ये रूप भिन्न-भिन्न होकर भी सत्य हैं। अत: हमें चाहिए कि प्रत्येक वस्तु का सापेक्ष रूप में विहगावलोकन करें।

यह ठीक है कि अनेकान्तवाद की कोई युगपत् परिभाषा सहज नहीं, यहां पहुँचकर भाषा मूक हो जाती है तो शब्द पंगु हो जाते हैं। अनेकान्तवाद के द्वारा महावीर ने विरोधी धर्मों, सन्तों के मध्य एक बुद्धिगम्य समन्वय स्थापित करने का श्रेयस्कर प्रयास किया। यह विचारदर्शन आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के अत्यधिक निकट है। अनेकान्तवाद को 'स्याद्वाद' की भाषा में अभिव्यंजित किया गया है और 'स्यात' शब्द अर्थ की दृष्टि से सापेक्ष्य का ही प्रतीक है। आइन्स्टीन ने सत्य के दो पक्ष माने हैं—१. सापेक्ष्य सत्य २. नित्य-सत्य। उनके मतानुसार सापेक्ष्य सत्य ही बुद्धिगम्य है। महावीर का अनेकान्तवाद भी पूर्णत: सापेक्ष्य सत्य पर अवलम्बित बुद्धिगम्य है।

अनेकान्तवाद को स्याद्वाद की शैली में अभिव्यजित किया जाता है। 'स्यात्' शब्द 'शायद' का समानार्थी नहीं, 'शायद' में तो वस्तु-स्थिति का बराबर अनिश्चय बना रहता है, वस्तु-स्थिति संदेहास्पद बनी रहती है, जबकि 'स्याद्वाद' में वस्तु की स्थिति का निश्चय रहता है और यह वस्तु-स्थिति-निश्चय सापेक्ष होता है। इसके द्वारा हम सापेक्षता में सोचते हैं, पक्षपात में नहीं—

स्याद्वादो विद्यते यत्र, पक्षपातो न विद्यते।
अहिंसाया: प्रधानत्वं, जैनधर्म: स उच्यते ।।

हम जितना जानते हैं उतना अभिव्यक्त नहीं कर पाते, कहने पर भी बहुत कुछ अनकहा रह जाता है—बस गूंगे के गुड़ वाली बात है ; गूंगा वस्तु के माधुर्य का अनुभव तो करता

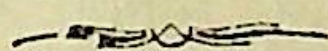
है परन्तु उसका वर्णन करने में असमर्थ है। वास्तव में अपूर्णता या अधूरेपन के अभाव को दूर करने के लिए ही 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यदि एक व्यक्ति के भिन्न-भिन्न पोजों में 'स्नेप' उठाये जायें तो फोटो भिन्न होकर भी 'स्यात्' यह ठीक है, 'स्यात्' वह ठीक है, इस प्रकार देखने से रुचिकर, सन्तोषप्रद और ग्राह्य होंगे। विभिन्न अपेक्षाओं, दृष्टिकोणों या मनोवृत्तियों से जो एक ही तत्व के नाना दर्शन फलित होते हैं, उन्हीं के आधार पर 'भंगवाद' की सृष्टि होती है। जिन दो दर्शनों का समन्वय बतलाने की दृष्टि से अनेक विषयभूत भाव-अभावात्मक दोनों अंशों को लेकर उन पर जो संभावित वाक्य-भंग बनाये जाते हैं वही सप्तभंगी हैं, जिनका आधार नयवाद और ध्येय समन्वय है। 'भंग' का अर्थ है भाग, लहर, प्रकार आदि। 'भंग' से तात्पर्य वचन के उस आधार से है जो वस्तु का स्वरूप बताता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी भी पदार्थ के विषय में जो बात कही जा सकती है वह सात प्रकार से कही जा सकती है, यही सहाभंगी विधि है—

स्यादस्ति स्वचतुष्टयादिरत: स्यान्नास्त्येक्षाक्रमात।
तत्स्यादस्ति च नास्ति चेति युगपत सा स्यादवक्तव्यता॥
तद्वत् स्यात् पृथगस्ति नास्ति युगपत् स्यादस्तिनास्याहिते।
वक्तव्ये गुणमुख्य भावनियत: स्यात् सहाभंगीर्विधि:॥

—श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्रम्, १०

अर्थात् सप्तभंगी विधि इस रूप में है—१. स्याद् अस्ति २. स्याद् नास्ति ३. स्याद् अस्ति-नास्ति ४. स्याद् अवक्तव्य ५. स्याद् अस्ति-अवक्तव्य ६. स्याद् नास्ति-अवक्तव्य ७. स्याद् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य। वास्तव में प्राचीनकाल में आत्मा आदि के विषय में नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्व-असत्व, एकत्व-बहुत्व, व्यापकत्व-अव्यापकत्व आदि के आधार पर परस्पर विरोधी मतों को समन्वित करने के लिए 'सहाभंग' की कल्पना की गई और सात से अधिक भंग संभव नहीं। इसी कारण सप्तभंग यानी सात की संख्या का निर्धारण किया गया। सप्तभंगित्व पारस्परिक मत-वैभिन्न्य का परिहार या सर्वग्राह्य बुद्धिगम्य सत्यानुगामिनी अभिव्यक्ति-शैली है। सत्यान्वेषक को सत्य की खोज इसी सिद्धान्त से होती है। दुराग्रह-पूर्वक अपना मत दूसरे पर थोपने से काम नहीं बनेगा। प्रजातंत्र हो या समाजवाद हो इनका समुचित रूप प्राप्त करने के लिए हमें अनेकान्तवाद के चिंतन को अवलम्ब बनाना होगा। जब हम दूसरे के कथन को सुनते हैं और उसे न्यायोचित मानकर स्वीकृति देते हैं तो समझना चाहिए हम अनेकान्तवाद के धरातल पर खड़े हैं। धर्मनिर्पेक्षता की भावना भी अनेकान्तवाद में विद्यमान है। जहां मतों में, धर्मों में, विचारों में कोई आग्रह नहीं होता, कोई संघर्ष नहीं होता, वरन् सहिष्णुता का उदधि उद्वेलित होता है वहीं अनेकान्त-वाद है। हम अपने प्रजातंत्र को, समाजवादी समाज-रचना को, धर्मनिर्पेक्षता की भावना को यदि सुदृढ़ रूप देना चाहते हैं, उसे अधिकाधिक लोक-हितकारी बनाना चाहते हैं तो महावीर के अनेकान्तवाद के रास्ते पर गामजन होना पड़ेगा। अलग-अलग मत-मतान्तरों

और दुराग्रहों की दीवारों को तोड़ना होगा तभी हम महावीर के अविभाज्य व्यक्तित्व को सम्यक् रूप में देख सकेंगे। महावीर के पास कौन-सा देवालय या चैत्य था? आत्म-धर्म के लिए, आत्मशोधन के लिए न किसी देवालय की जरूरत है, और न किसी चैत्य की आवश्यकता है। जहां विचारों में आग्रह होता है, वहाँ न केवल संघर्ष जन्म लेता है वरन् द्वेष, घृणा, क्रोध और अहिंसा का उदय भी होता है और फिर मनुष्य को मोक्ष कहां मिलेगा? सत्य किसी एक धर्म, जाति या राष्ट्र की पूंजी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक सम्प्रदाय सत्य के नूतन गवाक्षों को खोल कर समाज को—मानवता को गौरवान्वित कर सकता है। अनेकान्तवाद भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिये अति महत्वपूर्ण है। इसकी प्रासंगिकता से कौन मुंह मोह मोड़ सकता है। महावीर के इस बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक मूल्य को अपनाकर हम न केवल अपने प्रजातंत्र को, धर्मनिर्पेक्षता की भावना को मजबूत बना सकते हैं, वरन् मानव-कल्याण के लिए सह-अस्तित्व एवं विश्व-शांति के पथ को भी प्रशस्त बना सकते हैं। संघर्षों, दुराग्रहों, शोषण-तनावों, मत-मतान्तरों के सागर को हमें एकसाथ मिलकर मथना होगा, तभी अनेकान्तवाद का अमृत हाथ लग सकता है। व्यापक सहिष्णुता से अभिमंडित होने के कारण अनेकान्तवाद भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल वैशिष्ट्य है।



फिर कदम्ब महके

उमाकान्त मालवीय

फिर कदम्ब महके ।
प्राण प्राण में बरबस कसमस,
ज्वालामुखि दहके ।

गंध गंध सौगंध डोलती,
रग रग में गोपन टटोलती
ढीठ बयार बहे कुछ ऐसे
आंचल, लट बहके ।

नील धुलाई उजली चादर,
बिछी जुन्हाई सेज सेज पर
जाने वाले गये, मगर वे
कुछ न गये कह के ।

वेणु स्वरों की मुखरित आहट,
सिमटे आते बाहों के तट ।
बिछल बिछल जातीं हैं, वर्तुल
लहरें रह रह के ।

समानांतर रेखा

मनसा राम शर्मा 'चंचल'

मुझे लगता है, मेरा अस्तित्व इस संसार में एक रेखा के समान है, जोकि अपनी अस्मिता बनाए रखती हुई निरन्तर आगे बढ़ रही है और जिसके द एं बाएं कई समानांतर रेखाएं ठीक उसी प्रकार आगे बढ़ रही हैं, जिस प्रकार कि मैं। वे मेरी अगल-बगल से आरंभ होकर दूर-दूर तक फैली हुई दिखाई देती हैं, जहां जाकर वे सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती हुई किसी धुंधलके में विलीन हो रही हों।

इन समानांतर रेखाओं में मेरा अस्तित्व स्वतंत्र होते हुए भी कुछ दायरों में बन्धा है और ये समानांतर रेखाएं मुझे नियन्त्रित सी करती दिखाई देती हैं। ये रेखाएं मेरे ही दाएं-बाएं हैं—ऐसी बात तो नहीं, अपितु संसार की प्रत्येक रेखा के इर्द-गिर्द भी शायद ऐसी कोई न कोई रेखा अवश्य होगी।

समानांतर रेखा, जोकि दूसरी रेखा के समान-अन्तर पर चलतीहै और जो पहली रेखा से कभी नहीं मिलती और न विलग ही होती है, जैसे नदी के दो किनारे, रेलवे की दो लाइनें या कागज़ पर खिची कुछ रेखाएं।

—तो मैं बता रहा था कि मैं भी एक रेखा हूं, जो इस सृष्टि के वक्ष पर खिची है और जिस से समान अंतर पर कई दूसरी रेखाएं भी अंकित हैं, जो एक दूसरे से सापेक्ष भी हैं और निरपेक्ष भी। इनमें से कुछ सुखद हैं और कुछ दुखद ; लेकिन गुण सबका एक ही है कि वे कभी मिल नहीं पातीं और न पृथक या विलीन ही होती हैं।

यही प्रश्न मैंने पूनम से किया था कि क्या समानांतर रेखाएं एक दूसरे की पूरक भी होती हैं ? तो उसने सहज भाव से कहा था, यह अपनी-अपनी समझ की बात है। मैं उसका आशय समझ नहीं पाया था और मेरा दूसरा प्रश्न था कि यदि एक रेखा कहीं टूट जाए या उसकी गति अवरुद्ध हो जाए तो क्या दूसरी कोई आकर उसका स्थान ले सकती है तो पूनम ने कहा था कि यह परिस्थितियों की बात है और संसार में कई बार ऐसा भी होता है।

उसके उत्तर इतने तथ्यपूर्ण हो सकते हैं, इसकी मैंने कभी कल्पना नहीं की थी। अपने आपको समानांतर रेखा कहने में पूनम ने कभी गर्व अनुभव किया था। बाद में उसने नीरा को भी समानांतर रेखा कह डाला और स्वयं बीच से ऐसे विलीन हो गई कि गोया पूनम नाम की एक रेखा टूटी, और नीरा नाम से आगे चल पड़ी।

नीरा और पूनम नाम की दो रेखाओं की भेंट सुखद थी या दुखद, इस बात का निर्णय कोई सुगम कार्य नहीं था। मगर धीरे-धीरे नीरा नाम की रेखा का कागज़ पर उभरना पूनम नाम की रेखा का विलय सिद्ध होने लगा और आज देखता हूं कि पूनम का स्थान लेकर भी नीरा उस स्थान को भर न सकी, जोकि पहली रेखा के अभाव से रिक्त हुआ था। फिर भी रेखा के स्थान पर एक नई रेखा आ गई थी।

इन दो रेखाओं के अलावा कई अन्य रेखाएं मेरे साथ-साथ चल रही हैं। इनमें कुछ प्रेममयी, सुखद और कल्याणकारी हैं और कुछ एक भद्दी, दुखद और विद्रूप भी हैं। ये रेखाएं मेरे साथ-साथ चल रही हैं, जो जीवन के पूर्वार्ध से आरंभ होकर आज तक चलती आ रही हैं। ये भी दो भागों में यहां तक पहुंची हैं। इनका एक भाग मुझे घेरते-घेरते थक गया और उसने अपना स्थान बदल लिया ; लेकिन वह स्थान उसी समय दूसरी रेखा ने संभाल लिया। इनमें से कुछ पहली से ज्यादा ऊबड़-खाबड़, भद्दी और दुखद हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये रेखाएं किन्हीं सौम्य और क्रूर ग्रहों के समान हैं, जोकि मेरे जीवन पर अपनी छाया डालती जा रही हैं। इन रेखाओं को क्या नाम दूं, समझ नहीं पाता।

जीवन रेखा के साथ-साथ समानांतर रूप से चलने वाली इन रेखाओं का महत्व समय-समय पर घटता-बढ़ता रहता है और ये मुख्य रेखा पर अधिक प्रभाव नहीं डाल पातीं। ऐसी रेखाएं मिटती बनती रहती हैं। यह एक साधारण क्रम है। परिपाटी है, वो संसार की हर रेखा के साथ उसी प्रकार जुड़ी होगी, जैसे कि मेरे साथ।

जहां तक नीरा का सम्बंध है, उसे शायद इस बात का आभास ही न हो कि वह किसी की समानांतर रेखा भी हो सकती है, लेकिन यह बात उसके हृदय में स्पष्ट अवश्य है कि वह किसी रेखा से बन्धी उसी के साथ चलने पर विवश है, अन्यथा उसके पास पथ-परिवर्तन के कई अवसर थे। कई परिस्थितियां उसके समक्ष आईं, जबकि वह सुगमता से उस दूसरे पथ पर चल सकती थी, जहां कि कोई दूसरी रेखा चल रही होती, लेकिन उसने मेरे साथ चलने का निश्चय किया, यह उसकी महानता है और मेरे लिए गौरव की बात है।

मैं सोचता हूं कि यदि नीरा को मैं समानांतर रेखा के नाम से सम्बोधित करूं तो वह चौंक जाएगी और कहेगी कि यह ठीक नहीं, जबकि पूनम ने स्वयं कहा था कि मैं एक समानांतर रेखा हूं और नीरा ने पूनम के बारे में कहा था कि वह चंचल है और विश्वस्तणीय नहीं। मुझे स्मरण है, पूनम ने नीरा का स्वागत बड़े अनमने भाव से किया था। —और आज जब इन तमाम समानांतर रेखाओं पर दृष्टिपात करता हूं तो मुझे भी

एहसास होता है कि यद्यपि मैं अपने लिए एक रेखा हूं, लेकिन नीरा, पूनम या किसी दूसरे के लिए एक समानांतर रेखा से अधिक कुछ नहीं, क्योंकि हर रेखा अपने बगल में चलने वाली रेखा की समानांतर रेखा है, जबतक कि वह उसमें विलीन नहीं हो जाती या टूट नहीं जाती।

यही स्थिति उन वक्र रेखाओं की है, जो कई रूपों में विभक्त मेरे लिए अभिशाप बनी पड़ी हैं। एक ओर मुझे आह्लाद होता है नीरा को देखकर, जिसकी सौम्य आकृति सौरभ बिखेरती है तो दूसरी ओर अपनी बगल में चल रही भद्दी रेखाओं को देखकर मेरी परेशानियों में वृद्धि हो जाती है। ये रेखाएं मेरा पथ रोकती हैं और मुझे आगे नहीं बढ़ने देतीं। इन्हीं की क्रूर छाया पूनम पर पड़ी थी और अब ये मेरे और नीरा के मध्य आकर दोनों ओर अपनी विकृत छाया डालना चाहती हैं और मैं समझता हूं कि यही छाया मेरी तमामतर मुश्किलों का एकमात्र कारण है। मैं इसका निराकार चाहता हूं, जो मुझे सूझ नहीं रहा। मुझे विश्वास हो चुका है कि ये समानांतर रेखाएं भी मेरे जीवन के साथ-साथ चलेंगी। मुझे इनसे घबराना नहीं चाहिए और यदि इनमें से कुछ टूट भी गईं या किन्हीं दूसरी रेखाओं में विलीन हो गईं तो कोई और क्रूर रेखा इनका स्थान ले लेगी। मैं लाख कोशिश करता हूं कि मैं इन्हें अधिक महत्व न दूं, लेकिन जब ये मुझे काटने को दौड़ती हैं तो मुझे इस ओर ध्यान देना ही पड़ता है, लेकिन एक रेखा दूसरी का मार्ग कैसे रोक सकती है और वह उसे अपने मार्ग से कैसे हटा सकती है? यह सब तो एक नियामक के हाथ में है। वही हम सबको बना-बिगाड़ सकता है।

मैं कई बार सोचता हूं, यदि नीरा नाम की रेखा मेरा साथ देने को उद्यत न होती तो यह लम्बा और ऊबड़-खाबड़ रास्ता कैसे कटता? कैसे इन दुरूह और विषम परिस्थितियों एवं इन क्रूर व वक्र रेखाओं के मध्य चलने का आलम्बन मुझे मिल पाता। दो रेखाएं जब एक दूसरी से प्रेरणा पाकर सौहार्द से चलती हैं तो सुखद वातावरण बनता है जब एक दूसरी को काटने को दौड़ें तो एक विकट-स्थिति पैदा होती है। संसार में दैवी और दानवीय शक्तियां आदि काल से चलती आ रही हैं।

आज मैं नीरा की बात सोचता हूं तो कल पूनम की सोचता था। इसके अलावा अनु भी तो मेरे समानांतर ही चल रही है। और भी न जाने कितनी चल रही हैं, जिन्हें मैं पहचान नहीं पाता। लेकिन मुझे आ जाकर क्यों इन ही कुछ रेखाओं के बारे में सोचना पड़ता है, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। क्योंकि और भी कुछ ऐसी रेख.एं हैं, जो मेरी आत्मा में विलीन हो चुकी हैं। वे मेरे साथ आत्मसात् हो चुकी हैं। आज उनकी गति मेरी गति है। उनका सुख-दुःख, हर्ष-विषाद सब मुझसे जुड़ा है। क्यों नहीं मैं अपनी अन्तरात्मा में झांकता? इसलिए कि उनका मुझसे पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। वे भी कभी समानांतर चली थीं, लेकिन वे आगे बढ़ गईं और उन्होंने मुझे आत्मसात् कर लिया फलतः उन्हें आज अपने अन्तर में ढूंढना पड़ता है।

इन रेखाओं के बनने बिगड़ने के एक लम्बे क्रम और प्रक्रिया ने मुझे आज सोचने पर विवश कर दिया है कि उन सबका विश्लेषण करूं और उन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करूं, जिनके आधीन ये चल रही हैं। कुछ भी हो, ये सभी मेरे जीवन से इस प्रकार जुड़ी हैं कि मैं इन से दूर नहीं जा सकता और क्योंकि मैं इनसे दूर नहीं जा सकता इसलिए यदि मैं इनसे दूर भागने की कोशिश करूं तो ये भी मेरे साथ वहां तक जा पहुँचेंगी, क्योंकि इनका धर्म समानांतर चलना है।

इस लिए यह आवश्यक है कि मैं इन सबसे समझौता कर लूं, क्योंकि जीवन पर्यन्त जिन्होंने समानांतर चलना है, उनसे झगड़ा कैसा? कुटिल, वक्र और भद्दी रेखाओं को सरल, तरल और सुन्दर कहकर सम्बोधित करूं। निर्गुण को सगुण और निर्गंध को सुगन्ध कह दूं। इससे मुझे क्या अन्तर पड़ता है, लेकिन ऐसी स्थिति में मैं नीरा, पूनम, अनु और आत्मसात् की हुई उन रेखाओं को क्या उत्तर दूंगा, जिन्होंने अपना सब कुछ मुझे सौंप दिया है। फिर इस बात की क्या गारंटी कि ये वक्र, कुटिल और भद्दी रेखाएं भी मेरा मार्ग प्रशस्त करने में सहायक ही सिद्ध होंगी और यदि उन्होंने सदा मेरा मार्ग अवरुद्ध ही करना है, तो ऐसे समझौते का मतलब?

मुझे रह-रह कर नीरा की बात स्मरण हो आती है, जिसने कहा था, जीवन में कुछ रेखाएं ऐसी भी होती हैं, जिनसे मिलकर वास्तव में प्रसन्नता होती है और वह अपने प्रण को आज भी निभाए जा रही है, जबकि पूनम ने मुझे एक ऐसे दोराहे पर छोड़ दिया था, जहां कि आगे के समस्त मार्ग धूमिल थे—और यदि नीरा उस समय सम्बल न बनती तो ·····क्या होता, मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ये समानांतर रेखाएं हमारे जीवन का एक अभिन्न अंग हैं—और यह क्रम अनादिकाल से अनंत तक चलता रहेगा। मैं भी किसी अदृश्य शक्ति से नियन्त्रित इस संसार के वक्ष पर खिची एक रेखा के समान हूं, जिस प्रकार मेरे समानांतर चलने वाली रेखाएं—और इन सबका एक ही धर्म है, समानांतर चलना।



दो कविताएं

नारायण उपाध्याय

एक

फिर वही
बस की कतारों में
खड़े रहना
आंखों से बतियाना
शब्दों का ओठों से शरमाना
बिना काम पुस्तक का
लेना और लौटाना
पेन का छुपा लेना
और भीड़ में अकेले हो जाना
आता है याद वही
राधा का अनबोले शब्दों पर
चौंक चौंक जाना.

दो

उन दिनों शाम
रोज घूमने निकलना
सूनी-घनी सड़कों पर
एक सूरत को तरसना
और उदास हो जाना
इतनी सी बात का
यूं बार बार याद आना
एक पूरा गीत है
अकेले गाड़ीवान का
एक कड़ी गाना
पूरा संगीत है.

क्या धर्म का तत्व किसी गुफा में निहित है ?

श्याम लाल शर्मा

समाज के लिये नियम बनाने वाले साधारण मनुष्य नहीं थे। उन्होंने ऐसे शाश्वत सत्य प्रतिपादित किये हैं कि उन पर आचरण करते हुए व्यक्ति का अपना और उसके सम्पर्क में आने वाले समाज का कल्याण होता है। जिससे व्यक्ति और समाज का ही नहीं सबका भला होता है। उससे बड़ा धर्म और क्या हो सकता है। कोई व्यक्ति यदि नहीं चाहता कि दूसरा उसे शारीरिक कष्ट पहुंचाएं, या ऐसी बात करें कि जिससे उसके मन को कष्ट हो तो यह उस व्यक्ति का धर्म है कि वह कोई ऐसी बात न करे जिससे दूसरे को शारीरिक या मानसिक कष्ट पहुंचता हो। गान्धी जी का 'अहिंसा परमोधर्मः' का सिद्धांत यही तो है। अपने चिन्तन से, अपनी वाणी से, अपने कार्य से किसी को कष्ट न पहुंचाना ही अहिंसा है। हम नहीं चाहते कि कोई हम से झूट बोले, असत्य का आचरण करे। इससे व्यक्ति के प्रति अश्रद्धा पैदा होती है और विश्वास का आधार हिल जाता है। इस लिये हमारा धर्म है कि हम किसी के साथ असत्य का आचरण न करें। यदि सत्य बोलने से किसी की जान पर आ बनती हो तो उस समय असत्य न बोल कर मौन साधना धर्म संकट से बचाता है। कोई किसी की जान लेने के लिए किसी दूसरे का पीछा कर रहा है। वह व्यक्ति जान बचाने के लिये आपके घर घुस आता है और पीछे आने वाले आपसे पूछते हैं कि क्या आपने उस व्यक्ति को देखा है तो सत्य और जीवरक्षा के धर्म संकट में मौन ही श्रेयस्कर है। यदि वे स्वयं चले जाते हैं तो ठीक है यदि वे क्रुद्ध होकर आपको नुक्सान पहुंचाते हैं तो भी व्यक्ति की जान बच जाती है। हम कभी नहीं चाहते कि कोई हमारी वस्तु चुरा ले, कोई हमारा धन चुरा ले, कोई हमारा हक छीन ले ; यदि कोई ऐसा करता है तो हमें क्रोध आता है, हम क्षुब्ध होते हैं और कई बार कानून भी अपने हाथ में लेकर अपने क्रोध का प्रदर्शन करते हैं। हम कभी नहीं चाहते कि कोई हमारे साथ ऐसा आचरण करे। तो सीधी बात है कि हमें भी कोई ऐसी हरकत नहीं करनी चाहिये कि हम किसी की वस्तु हथिया लें, किसी

का अधिकार छीन लें। अपने स्वार्थ के लिये, अपने किसी प्रिय बन्धु या रिश्तेदार के लिये किसी अन्य हकदार व्यक्ति का हक छीन लें। यही अस्तेय है, चोरी न करना है। गृहस्थाश्रम में अपनी पत्नी के अतिरिक्त प्रत्येक नारी को माता के रूप में समझना और पति के अतिरिक्त और पुरुषवर्ग को पिता, भ्राता और पुत्र समझना, मन वचन और कर्म से अपनी इन्द्रियों पर संयम रखना और सबमें भगवान् के दर्शन करना परम धर्म है। यदि कोई हमारी माँ, बहन या पुत्री को कुदृष्टि से देखता है तो हमें क्रोध आता है। इस लिये इसी रूपदण्ड से हमें भी सोचना चाहिये कि हम कोई ऐसा पाप न करें। कोई ऐसा दुराचार न करें। जब हम किन्हीं लोगों को सामर्थ्य से बाहर सम्पत्ति संगृहीत करते देखते हैं तो हमें आश्चर्य और विस्मय होता है कि नियमित आय से जब जीवन निर्वाह कठिन हो रहा है तो उससे कम आय प्राप्त करते हुए व्यक्ति विशेष के पास इतनी चल और अचल सम्पत्ति कहां से आ गई। मन सोचता है, तर्क करता है, कि यह संग्रह शोषण का परिणाम है, अनुचित साधनों का परिणाम है। हमारा मन जब दूसरों के बारे में ऐसे तर्क कर सकता है तो निश्चित है कि दूसरे लोग भी हमारे बारे में ऐसा सोच सकते हैं। वे हमारे साधनों, आय-व्यय तथा सम्पत्ति के विषय में खोज-पड़ताल कर सकते हैं इसलिये हमारी आय और हमारे व्यय का सन्तुलन ऐसा होना चाहिये कि समाज में अनुचित न जंचे। अनुचित संग्रह से ईर्ष्या-द्वेष और दुरानुकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है। इसलिये धर्म-ग्रन्थों ने असंग्रह को बड़ा प्रश्रय दिया है।

हम जब समाज में किन्हीं व्यक्तियों को भारी तोन्द लिये देखते हैं तो शरीर के असन्तुलन पर हंसते हैं। इसका कारण शारीरिक व्यायाम का अभाव और पेट को आवश्यकता से अधिक भरना है। हमारे शरीर को पौष्टिक भोजन ही नहीं, शारीरिक श्रम की भी आवश्यकता होती है। शारीरिक श्रम के अभाव में पेट की विकृति या शरीर में अन्य व्याधियों की वृद्धि होने लगती है। दैनिक कार्यक्रम में बाधा पड़ने लगती है। दूसरों पर निर्भर होने की स्थिति आने लगती है। इसलिये हमारे शास्त्रों में धर्म के लक्षणों में शारीरिक श्रम की महत्ता पर भी जोर दिया गया है।

संसार में जो भी जीवजन्तु उत्पन्न होता है खाता है, पीता है, सोता है, संसार के श्रम को बढ़ाता है। इस विषय में मनुष्य और अन्य ज़ीवधारियों में कोई अन्तर नहीं। मनुष्येत्तर प्राणी केवल जीवन धारण करने के लिये खाते हैं परन्तु एक मनुष्य ही ऐसा जीवधारी है जो केवल जीवन धारण के लिये ही नहीं, स्वाद के लिये भी खाता है और यह केवल मनुष्य ही है जो स्वाद के लिये प्राकृतिक जीवन-पद्धति को छोड़ कर स्वेच्छाचार और जीभ के चटखारे के लिये अपने जीवन से द्रोह करता है। यह स्वाद का चस्का व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक शारीरिक तथा मानसिक विकार उत्पन्न करने के लिये उत्साहित करता है। एक विद्वान् का कथन है कि लोग भूखे रहकर नहीं मरते अपितु अधिक खाने से मरते हैं।

हम भोजन इस लिये करते हैं कि भगवान् ने जो जीवन दिया है, जो शरीर दिया है वह साधन बना रहे, सुचारू रूप से काम करता रहे। हम इस लिये नहीं जन्मे हैं कि केवल खाते ही रहें जीवन का लक्ष्य तो ब्रह्म से मिलन है। इस संसार में रहते हुए, सांसारिक कार्य करते हुए इस माध्यम शरीर को स्वस्थ रखना परमावश्यक है। ध्येय तक पहुंचने के लिये वाहन को ठीक रखना बड़ा जरूरी होता है। रास्ते में गाड़ी बिगड़ जाये तो कितना बखेड़ा होता है। गाड़ी में पेट्रोल का, मोबिलआयल का जो महत्व है वही भोजन का हमारे शरीर के सम्बन्ध में है। धर्म साधन के लिये शरीर चलता रहे इतना ही भोजन का महत्व है। भोजन की सात्विकता और पवित्रता जैसे शारीरिक और मानसिक प्रभाव उत्पन्न करती है वह भी सर्वविदित ही है। इसलिये साधना को ईश्वर भजन के लिये सात्विक आहार कहा गया है। राजा, सैनिक तथा अन्य प्रकार के परिश्रम करने वालों के लिये राजसिक और तामसिक भोजन भी होते हैं। पर मुख्य चिन्तन बिन्दु यही है कि आहार शरीर की रक्षा के लिये होता है। न कि शरीर इस लिये बना है कि हम स्वादु-सुस्वादु भोजन ही खाते रहें। जीभ के चटखारों में फंस जायें तो राजसिक और तामसिक वृत्तियां ही प्रधान होने लगती हैं। काम, क्रोध, अहंकार आदि मन को दबाने लगते हैं, जीवन में क्षोभ उत्पन्न होता है। इसलिये हमारे शास्त्रों ने 'आस्वाद' पर बल दिया है केवल शरीर को चलाने के लिये भोजन करो। भोजन की विविधता के लिये शरीर की रचना नहीं हुई है।

आजकल एक भय का वातावरण सर्वत्र विद्यमान दिखाई देता है। मालिक से नौकर भयभीत रहता है, बड़े अफसर से छोटा अफसर डरा-डरा रहता है, देशों के शासक एक दूसरे से डरे डरे रहते हैं। विद्या धर्म के क्षेत्रों में छात्र अध्यापकों से और आजकल तो विपरीत हो गया है कि अध्यापक छात्रों से डरते हैं। चेले गुरुओं से डरते हैं और बड़े-बड़े विद्वान तथा महात्मा देवताओं से डरते हैं। इस भयाक्रान्त वातावरण का कारण क्या है। अपने कर्तव्य का पालन न करते हुए, समय का दुरुपयोग करना या जो काम अपने जिम्मे है वह न करके स्वार्थ के लिये कोई और काम करना या व्यर्थ ही गपबाजी में समय नष्ट कर देना ऐसे कारण हैं जो मन में चोर को जन्म देते हैं और जैसे चोर का दिल धड़कता रहता है इसी प्रकार कर्तव्य का पालन न करने वाले और समय नष्ट करने वाले व्यक्ति का हृदय भी धड़कता रहता है। धर्म के क्षेत्र में जब हम देवी देवताओं की मूर्तियों के सामने झुकते हैं, मनौतियां करते हैं, कांपते हैं तो कई बार मन में विचार उत्पन्न होते हैं कि मनुष्य ने ही तो इन मूर्तियों को जीवादान दिया। मनुष्य ने ही इन मूर्तियों को बनाया और अब अपनी बनाई हुई कृतियों से स्वयं ही डर रहा है। स्वयं कल्पना करना और फिर कल्पना की भीषणता से डरना क्या विचित्र वातावरण है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि भय की जड़ में कर्तव्य पालन का अभाव या उपेक्षा अवश्य विद्यमान होती है। इस लिये इस भय के वातावरण से बचने के लिये जरूरी है कि व्यक्ति

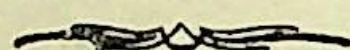
अपने कर्तव्य के पालन में किसी प्रकार की कोताही न करे। जो अपना कर्तव्य निभाता है उसे किसी से भी डरने की आवश्यकता नहीं रहती। भय हमारे मन को कुण्ठित करता है। यदि हम अपने कर्तव्य का पालन ठीक प्रकार से करते हैं तो हमें कहीं भी, किसी से डरने की आवश्यकता नहीं रहती।

संसार के भिन्न-भिन्न भागों में महात्माओं, मसीहाओं, पैगम्बरों और अवतारों ने ब्रह्म तक पहुंचने के लिये भिन्न-भिन्न रास्ते खोजे और जीवनपद्धतियां निश्चित कीं। आजके युग में ये पद्धतियां धर्म, मजहब और रिलिजन के नाम से विख्यात हैं। जैसे भिन्न रास्ते एक ही ध्येय स्थान तक ले जाते हैं, इसी प्रकार ये मजहब एक लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं। देश, काल और परिस्थितियों के कारण कुछ भेद भले ही दिखाई दें परन्तु ध्येय एक ही है। जो व्यक्ति ध्येय को भुलाकर रास्ते के मार्गदर्शक फलकों के नीचे ही बैठ जाते हैं वह ध्येय तक नहीं पहुंच पाते। या अपने ही साइन पोस्ट तथा सड़क को सही समझने वाले और इस आधार पर दूसरों को मूर्ख समझने वाले, उनसे घृणा या द्वेष करने वाले लोग अपने धर्म के तत्व को नहीं समझते और संसार में क्षोभ उत्पन्न करते हैं। विचार प्रकट करने का सबको अधिकार है ; अपने मत और सिद्धान्त को प्रतिपादित करने का भी सबको अधिकार है परन्तु दूसरों की निर्धनता, अभाव और विवशता का लाभ उठाकर अपने धन या बल की सहायता से दूसरे का मत परिवर्तन करना धर्म की सेवा नहीं। अपने मत या सम्प्रदाय को प्रलोभन या भय से विस्तार देने में ईश्वर की प्रसन्नता कहां से आ जाती है। ईश्वर परमपिता है तो संसार के सब प्राणियों का है। किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के प्राणियों का ही नहीं है। दूसरों के धर्म परिवर्तन के लिये करोड़ों और अरबों रुपयों का व्यय करने वाले देश या शस्त्रास्त्र बल से आतंकित करके जबरदस्ती धर्म-परिवर्तन कराने वाले देश कौन सी ईश्वरीय आज्ञा का पालन करते हैं। बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार संसार भर में हुआ परन्तु महात्मा बुद्ध कौन सा धनसंग्रह लेकर प्रचार करने गये थे। स्वामी शंकराचार्य ने भारत भर का भ्रमण करके हिन्दूधर्म का प्रचार किया। कौन सी सेना, अस्त्रशस्त्र या धन बल उनके पास था। संसार में सब अपने-अपने देश में, देश में अपने-अपने घर में अपनी इच्छा के अनुसार कोई चाहे जिस पद्धति का आचरण करे। इसमें कोई आग्रह या आतंक क्यों हो? सब धर्म अपने स्थान पर ठीक हैं। सब अपने स्थान पर सम्मान के योग्य हैं प्रत्येक व्यक्ति में सब धर्मों के प्रति समानत्व की भावना उत्पन्न करना ही सब राज्यों और राष्ट्रों का धर्म होना चाहिये।

धर्म का तत्व बड़ा गूढ़ होता है उसे समझने के लिये घोर परिश्रम करना पड़ता है ये बातें शायद दर्शन-शास्त्रों की गुत्थियां सुलझाने के विषय में कही गई हैं। मानव मात्र के लिये धर्म की सर्वोत्तम कसौटी यही है कि "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्"

जो बात स्वयं को अच्छी नहीं लगती। उस बात का दूसरों के साथ आचरण मत करो। अपनी भावना होती है कि कोई हम से अनपेक्षित बर्ताव न करे तो वैसा बर्ताव हमें भी दूसरों से नहीं करना चाहिये।

जैसा आप चाहते हैं कि दूसरे आपके साथ व्यवहार करें वैसा व्यवहार ही आपको दूसरों के प्रति करना चाहिये। धर्म का इससे सरल लक्षण और क्या हो सकता है ? हमारा धर्म तो जीवन की सरल पद्धति है। दैनिक व्यवहार की समस्या है। इसका तत्व कहीं किसी गुफा में निहित नहीं है। हमारा धर्म हमारे आचरण में प्रतिबिम्बित होता है। यह तो अपने अन्दर झांकने की बात है। कहीं ढूंढने की नहीं।



डोगरी कविता

बदरी

शम्भुनाथ शर्मा

ठुमक ठुमक छा रही बदरिया यह मोसम अनमोल
झूम रहे मस्ती में पंछी बोलें मादक बोल

पिहू पिहू कर रहा पपीहा
पंख पसारे अम्बर तोले
उतरे न पूरा तोल।
ठुमक ठुमक……

कजरारे मेघों, घारों ने
पोत दिया चहुं ओर अंधेरा ;
वन-उपवन हिल्लोल।
ठुमक ठुमक……

पथ के राही रुके कहीं पर
नींद प्यार की प्रणयी सोए
सांस-सांस में घोल।
ठुमक ठुमक……

बरस निगोड़ी मेरे अंगना
भाग्य जले हैं, शीतल कर जा
व्यर्थ यहां मत डोल।
ठुमक ठुमक……

तेरी गरज सुने, मन डोले
घाव पुराने फिर से खोले
खोल न सारा पोल ।

ठुमक ठुमक......

यह पतझर क्योंकर सरसेगी
तू न अगर घिर कर बरसेगी
सुनकर मेरे बोल ।

ठुमक ठुमक......

—अनुवाद : सुभाष भारद्वाज



नरेश मेहता के एकांकी : स्त्री-पुरुष सम्बन्ध

नीलम खोसला

स्त्री और पुरुष समाज की प्रथम इकाई माने जाते हैं। साहित्य में इनके सम्बन्धों की व्याख्या निरन्तर होती रही है किन्तु इस दौर के साहित्य में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की परिकल्पना और अंकन में ऐसे बहुत से पक्ष उभर आये हैं जो चाहे सीमित रूप में ही सही, पहले से भिन्न और अधिक मानवीय हैं। आज के सशक्त लेखक श्री नरेश मेहता ने एकांकियों की सीमित परिधि में इन सम्बन्धों को अभिव्यक्ति दी है। आज के भौतिक युग में व्यक्ति अपना कर्त्तव्य कहां तक निभा पाता है और कहां पति-पत्नी के सम्बन्धों में अनायास ही अलगाव की रेखा खिंच जाती है ; लेखक प्रायः इस बात का अन्वेषण करता जान पड़ता है।

मोह, मोक्ष, गोपा—ऐतिहासिक पात्रों—सिद्धार्थ और यशोधरा को लेकर चलने वाले इस एकांकी में पति-पत्नी के मध्य खिंच गई एक अयाचित दरार का चित्रण है। मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होने के कारण गोपा (यशोधरा) का पति उससे विमुख हो चुका है किन्तु निर्दोष गोपा का हृदय इस विघटन को अभी स्वीकार नहीं कर पाया है। वह मानिनी अभी भी साधिकार कहती है—'नहीं मां ! यदि प्रतीक्षित व्यक्ति द्वार तक आ गया होगा तो वह निश्चित ही भीतर आएगा। मुझे यहीं उनकी प्रतीक्षा भी करनी होगी...।'[1] वह पति से सम्बन्ध विच्छेद कैसे कर सकती है ; वह तो पति की स्मृति को पुण्य की भांति ओढ़ कर जीवन-यापन करती है। बुद्ध के रूप में सिद्धार्थ, जिसमें कोई मोह या लगाव नहीं है और जो दूसरों को भी माया-मोह त्यागने का उपदेश देते हैं, वह भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि—'यशोधरा के लिये सिद्धार्थ ही निर्वाण है। उसके मन की आसक्ति, मोहभाव को लोकधर्म या वितक नहीं कहा जा सकता है।'[2]

---

१. सनोवर के फूल [मोह, मोक्ष, गोपा] नरेश मेहता—पृ० ३५.
२. वही—पृ० ४२

सनोवर के फूल—आजकल पति-पत्नी के सम्बन्धों में जो दोगलापन आ गया है, उसे अभिव्यक्त करने में यह एकांकी बहुत सशक्त बन पड़ा है। किसी तीसरे व्यक्ति की विद्यमानता इस मधुर सम्बन्ध में कैसे कड़वाहट घोल देती है और ज़रा सी ठेस लगने पर विद्रोह का लावा कैसे फूट पड़ता है—यही इस एकांकी का कथ्य है। उदयन और वानीरा सामाजिक मुखौटा ओढ़ कर प्रेम प्रदर्शन तो करते हैं किन्तु भीतर से उनके सम्बन्धों में बिखराव भरा है। स्थिति इतनी गम्भीर हो जाती है कि वैवाहिक सम्बन्ध घुटन बन कर दोनों के हृदय को सालता है, "वानीरा—ओह ! विवाह की कैद में मेरी सांस घुट जाएगी।[3] उदयन के हृदय में बैठा चिर-शासक पुरुष करवट लेता है किन्तु वानीरा भी अनुचित दबाव सहन करने वाली स्त्री नहीं है—

वानीरा—(आवेश में) "मैंने पापा से पूछ लिया है नीलकंठ ! मैं मिस्टर मित्रा को इन्वाइट करने जा रही हूं।"

उदयन—"पापा कौन होते हैं ? मैं तुम्हारा पति हूं और आदेश देता हूं कि तुम नहीं बुलाओगी उसे।"

वानीरा—"तो मैं भी तुम्हारी पत्नी हूं और कहती हूं कि तुम कैप्टन की पत्नी को नहीं बुलाओगे।"

उदयन—(एकदम आग होकर) "वह मेरी मित्र है।"

वानीरा—"वह भी तो मेरा मित्र है।"[४]

स्त्री एवं पुरुष के बीच अधिकारों की बात सम्बन्धों में फीकापन ला देती है—'उदयन—नीलकण्ठ ! यह प्रश्न कल के निमन्त्रण का नहीं ; उदयन और वानीरा का नहीं बल्कि नारी और पुरुष का है।'[५]

स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का दूसरा आयाम नीलकंठ और वानीरा के मध्य है। नीलकंठ स्त्री के आकर्षण को मात्र छलावा मानता है, "नीलकंठ—प्रेम ! पता नहीं किस लेखक ने लिखा है कि यह शब्द समाज द्वारा नारी के ओठों से कहा गया सबसे बड़ा असत्य है।"[६] स्त्रीवर्ग की निष्क्रियता से उसे बहुत नफरत है, "नीलकण्ठ—एक अजीब संतोष आपको होता है कि आप दिन भर आफिस में नौकरी में लगे हैं और आपकी पत्नी दिन भर चुइंगम खा रही होती है। नौकरी—चुइंगम, पति और पत्नी !!"[७] किन्तु वही नीलकंठ वानीरा

---

३. सनोवर के फूल नरेश मेहता पृ० १५४

४. वही—पृ० १५७

५. वही—पृ० १५१

६. वही—पृ० १४६

७. वही—पृ० १४८

की मुस्कराहट की प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाता और वह चाहे अनचाहे स्त्रीवर्ग का पक्षपात भी करने लगता है। वानीरा के हृदय में नीलकंठ (उदयन के मित्र) के प्रति लगाव तो नहीं पर इसके साथ खुल कर बातचीत करना भी उसे अनुचित नहीं लगता। फलत: दो पुरुषों और एक स्त्री का त्रिकोण वस्तुत: एकांकी में बन नहीं पाया है। वानीरा मिस्टर मित्रा की ओर आकृष्ट है तो उदयन कैप्टन गुहा की पत्नी की ओर। नीलकंठ की उपस्थिति तो पति-पत्नी के सम्बन्ध तन्तु को जोड़ने का प्रयास मात्र है।

मोमबत्तियों का कैक्टस—यह एकांकी उच्चवर्ग के पात्रों को लेकर चलता है जिसमें दिखाया है कि पति अपने कामों में व्यस्त है और पत्नी अपनी मीटिंगों में, अत: उनके पारिवारिक जीवन में बिखराव और टूटन की कसक सुनाई देती है। वह अपने सम्बन्धों में आई नीरसता के लिये एक दूसरे को ही दोषी ठहराते हैं—'श्रीमती खन्ना—उन्हें मीटिंगों से फुर्सत हो तब दिखलाई पड़ें। रेणु जब से स्टेट्स से लौटी है क्या मजाल जो उनको इतनी फुर्सत मिली हो कि बेटी से यह तक पूछें कि तुम कैसी रहीं, क्या किया? अफसर पति भी मुसीबत ही है।'[८]

बांसों में फूल आ गये—इस एकांकी में स्त्री का उत्सर्ग पुरुष के ओछेपन को दिखा कर किया गया है। प्रेम-मन्दिर में स्त्री पुरुष को अपना आराध्य मानकर सर्वस्व समर्पित कर देती है किन्तु पुरुष अधिक सम्पत्ति पाने के लोभ में अन्यत्र विवाह सम्पन्न करा लेता है, लेकिन ठुकराई गई स्त्री के हृदय-पटल से उस मधुर सम्बन्ध की छाप विलीन नहीं होती—ऐसी ही स्थिति गोपा की है। महिम उसके प्यार को ठुकरा कर उस पर इल्जाम लगाते हुए कि गोपा की मां चरित्रहीन थी, स्वयं अन्यत्र शादी कर लेता है। गोपा महिम की स्मृति को सम्भाले रहती है और मृत्यु को प्राप्त होती है किन्तु सम्पत्ति के लोभी महिम के नाम अपनी सारी सम्पत्ति लिख जाती है। वह महिम पर क्रोधित होती है तो भी किसी अधिकार से और अन्त में महिम को अपने किये पर पश्चाताप अनुभव का होता है।

किराये के कमल—स्त्री-पुरुष की कोमलता एवं भावात्मक सूक्ष्मता का ह्रास वहीं हो जाता है जहां पर सम्बन्ध आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति का हेतु मात्र हो। मिस उत्तरा सरकार नीलाम्बर जोशी से प्रेम करती है किन्तु उसका कोई अन्य प्रेमी न रहा हो, ऐसी बात नहीं। चंचल वृत्ति वाली उत्तरा कभी कैप्टन लतीफ की ओर आकृष्ट होती है तो कभी कृष्ण मुरारी की ओर। कांजीशाह की बातों में आकर तो वह नीलाम्बर से तय किये गये विवाह को भी अस्वीकार कर देती है। दूसरी ओर नीलाम्बर उत्तरा को अत्यधिक चाहता है। अपनी सगाई के दिन उसे हीरे के टाप्स देता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि उसके उपहारों की कीमत की भित्ती पर ही उत्तरा का प्रेम आधारित है।

---

८. सनोवर के फूल (मोमबत्तियों का कैक्टस) नरेश मेहता पृ० १२१

वही उत्तरा जब सरकार को नीलाम्बर के विरुद्ध सूचना देती है तो उसे समझते देर नहीं लगती कि यह सब करामात कांजीशाह की है जो उत्तरा को अपने खेल का मोहरा बनाना चाहता है। अत: वह सम्बन्ध जो अभी विवाह बन्धन में बंध भी नहीं पाया था, एक ही झटके में छिन्न-भिन्न होकर रह जाता है।

कांजी और उत्तरा का सम्बन्ध भी केवल आर्थिक सम्पन्नता पर ही आधारित है, किन्तु व्यापारी प्रवृत्ति का कांजी उत्तरा को अपना उल्लू सीधा करने का माध्यम मात्र मानता है।

पन्थहारा—परम्परागत सम्बन्धों में एक अपवाद इस एकांकी के नायक शरेन एवं नायिका शेफाली के सम्बन्ध में देखने को मिलता है। अनदेखे शरेन की प्रतीक्षा में शेफाली घर की एक-एक वस्तु उसकी रुचि के अनुसार सजा कर रखती है। अपने बाबू जी के नाम लिखे शरेन के पत्रों से ही वह शरेन का परिचय पाती है और उस काल्पनिक पुरुष की आराधना करती रहती है। किन्तु दुर्भाग्यवश शरेन का चेहरा बम विस्फोट से विकृत हो जाता है और वह घर आ कर अपना वास्तविक परिचय दिए बिना ही रात की गाड़ी से लौट जाता है। बाद में उसका पत्र पा कर शेफाली विह्वल हो उठती है। उसके अनुसार आत्मिक-सम्बन्ध सर्वोच्च वस्तु है, जहां व्यक्ति बाह्य सौंदर्य की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखता।

प्रश्न और पत्थर—इस एकांकी में प्रत्येक पात्र आर्थिक शोषण के कारण संत्रस्त नजर आता है। नाटक में चित्रित इसाई परिवार की ममी अधेड़ अवस्था की चिड़चिड़ी स्त्री है जबकि पापा शराबी, आतममौजी, निश्चिन्त एवं दबंग स्वभाव का पुरुष है। पापा की शराब में घर का पैसा होम होता रहता है और ममी का आक्रोश बढ़ता रहता है। फिर भी कहीं एक ऐसा लगाव-सूत्र विद्यमान है कि ममी पति से अलग होने की बात सुन कर सहन नहीं कर पाती।

बीमार सांझ के किनारे—इस एकांकी में पति-पत्नी के मानसिक तनाव का चित्रण है। तीसरे व्यक्ति के आने से पति-पत्नी के सम्बन्ध में दरार पड़ना, परिणामत: त्रिकोण की सृष्टि होना एक घिसी-पिटी युक्ति है किन्तु श्री मेहता ने इसे नये ढंग से प्रस्तुत किया है अर्थात् वह जिस अन्य कारणभूत समस्या का परिचय देते हैं वह है—'पत्नी की मां का चरित्रहीन होना।' प्रेम के आवेश में किरण (नायक) दीपा से विवाह कर लेता है किन्तु समाज का सामना नहीं कर पाता। उधर दीपा टी० वी० की बीमारी में घुलने लगती है और अपनी व्यथा किसी से नहीं कहती। दीपा के मन में समाज के प्रति यही आक्रोश पलता है कि पति-पत्नी के सर्वथा आपसी (आत्मीय) सम्बन्धों में भी समाज अपने अनुशासन का दण्ड लिये विद्यमान रहता है—'सम्पूर्ण नारी होने से क्या होता है? नारी और पुरुष के मिलन के बाद भी समाज, सम्बन्धियों के रूप में उन दोनों के जीवन में

रहता है।'[९] पति-पत्नी के सम्बन्धों में आने वाली शिथिलता के लिये उत्तरदायी हैं समाज के खोखले आदर्श, जिनके अनुसार किसी निर्दोष पर दोषारोपण कर उसकी संतान को भी परिणाम भुगतने के लिये विवश किया जाता है। दीपा निर्दोष है, दीपा की मां निर्दोष है, किरण सब जानता है किन्तु दूसरी ओर समाज में लौट जाने का आकर्षण प्रबल है तभी तो दीपा कहती है—'पलायन करके क्या हम यथार्थ को धोखा दे सकते हैं ? किरण एक ओर तो मेरे सौंदर्य का मोह भी नहीं छोड़ सकता, दूसरे वह मुझे जीवित भी नहीं रखना चाहता।'[१०]

स्त्री-पुरुष सम्बन्ध दीपा और प्रशांत के बीच एक अन्य रूप में उभरे हैं। उसके पति का कवि-मित्र प्रशांत एक ही दिन में अपनी संवेदना से मृत्यु-शैय्या पर पड़ी दीपा की भावनाओं को छू लेता है और दीपा उसे अपना इतना आत्मीय पाती है कि वर्षों से संजोई कुंठा को उसके समक्ष अभिव्यक्त कर देती है ; किन्तु यह सम्बन्ध किसी सैक्स आकर्षण पर आधारित न होकर सच्चे मित्रों का सा सम्बन्ध है।

सोयी हुई महराबें—विवाहित स्त्री-पुरुष में से एक के किसी तीसरे के साथ सम्बन्ध की भयानक परिणति इस एकांकी में दृष्टिगोचर होती है। परांजपे अपनी सुन्दरी पत्नी नन्दिनी के होते हुए भी अंजना की ओर आकृष्ट होता है तथा प्रेम की तीव्रता इतनी बढ़ जाती है कि पत्नी को शिमला भेज कर उसकी अनुपस्थिति में अपने प्रेम-सम्बन्धों को सुदृढ़ करता है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में तनाव इतना बढ़ जाता है कि नन्दिनी आत्म-दाह कर लेती है। तब मानो परांजपे पर वज्रपात होता है। तभी अंजना उससे पच्चीस हजार रुपया मांगती है और न देने की हालत में उसे ब्लैक-मेल करने की धमकी देती है। परांजपे अंजना की नीचता को सहन नहीं कर पाता और उसे शूट कर देता है। फिर भी इस बात का उसे सन्तोष है कि उसने अंजना जैसी नीच स्त्री का खून किया है, नन्दिनी जैसी महान् आत्मा का नहीं।

पिछली रात की बरफ—इस एकांकी में नकुल और सुहाना का पति-पत्नी सम्बन्ध परम्परागत किस्म का है। पति से अत्यधिक प्रेम करने के कारण पल-पल उसके अनिष्ट की आशंका मात्र से घबरा उठना, सुहाना की प्रवृत्ति है। दूसरी ओर जीवन के संघर्षों से जूझना नकुल की आदत। डलहौजी घूमने आये इस दम्पत्ति का परिचय यूं

---

९. पिछली रात की बरफ (बीमार सांझ के किनारे) नरेश मेहता पृ० १२०-२१

१०. वही—पृ० ११९

मिलता है कि एक सुखद उल्लास इनके जीवन में व्याप्त है । किन्तु अचानक नकुल का बरफ की तहों में सदा के लिये खो जाना और सुहाना का चिल्लाना एक मार्मिक स्थिति उत्पन्न कर देता है ।

समग्रत: हम देखते हैं कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में कुछेक नई समस्याओं का प्रतिपादन करके भी एकांकीकार परम्परा से चले आ रहे पुरुष के अधिकारी मान एवं स्त्री के शोषण की भावना को पूर्ण रूप से उभार नहीं पाया । किन्तु स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को मात्र शारीरिक स्तर से उठा कर मानसिक और आध्यात्मिक धरातल तक ले जाने का उसका प्रयास निश्चित रूप से सराहनीय है ।



आत्मकथा

ललिता कुमारी मोटा

कल
गुलाब की डाली पर
बसंत ऋतु का
पहला फूल खिला
मेरे मन के पेड़ से
किसी याद का
सूखा हुआ पत्ता
टूटा

सखी !
पतझड़ और बसंत की कहानी
गुलाब के फूलों से नहीं
मेरे मन से सुनो—
जो बसंत में भी
पतझड़ की तरह
उदास है
सूना है।

एक डोगरी लोक गीत

(१)

चन्न म्हाड़ा चढ़ेआ लग्गा पारैं किंगरी ।
चन्ना गी बो प्यार देना नत्थ करिऐ खिंगरी ॥
मुक्कना बसोस मेरी जान बो ।
मिलना जरूर मेरी जान बो ॥

(२)

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया गद्दिएं दै डेरै ।
मोती मरनां अपनी ते जम्मै लग्गना तेरै ॥
बड़ी ऐ दोआसी मेरी जान हो ।
मिलना जरूर मेरी जान हो ॥

(३)

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया उप्पर रजोरिया ।
बनी जायां पखरू ते मिली जायां चोरिया ॥
बड़ी ऐ दोग्रासी मेरी जान बो ।
मिलना जरूर मेरी जान बो ॥

(४)

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया नदिया दै पार ग्रो ।
लुट्टी लैनी ग्रसें जिन्दे जोबनै दी ब्हार ग्रो ॥
मुक्कना बसोस मेरी जान हो ।
मिलना जरूर मेरी जान हो ॥

(५)

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया किक्करै दै रुक्ख ओ ।
निक्की होंदी मरी जंदी मुक्की जंदे दुःख ओ ॥
बड़ा ऐ बसोस मेरी जान बो ।
मिलना जरूर मेरी जान बो ॥

['थिरके पत्ता पीपल का' से साभार]

(१)

चढ़ा चांद मेरा लगा पार जा कर।
उसे प्यार देना है नथ को हटा कर॥
चुकेगा यह दुख मेरी जान बो।
कि मिलना जरूरी मेरी जान बो॥

(२)

उगा चांद मेरा है गद्दिन के डेरे।
मरूं मौत अपनी लगूं नाम तेरे॥
बड़ी है उदासी मेरी जान हो।
मिलना जरूरी मेरी जान हो॥

(३)

उगा चांद मेरा है ऊपर - राजौरी।
कि बन कर पखेरू तू मिल जाना चोरी॥
बड़ी है उदासी मेरी जान ओ।
कि मिलना जरूरी मेरी जान ओ॥

(४)

चढ़ा चांद मेरा ओ नदिया के पार।
यौवन की हम लूट लेंगे बहार॥
चुकेगा यह दुख मेरी जान हो।
कि मिलना जरूरी मेरी जान हो॥

(५)

मेरा चांद कीकर के ऊपर उगा रे।
कि छोटी ही मरती तो चुक जाते दुखड़े॥
है अफसोस भारी मेरी जान बो।
कि मिलना जरूरी मेरी जान बो॥

—अनुवाद : डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

शेख नूरुद्दीन वली का एक पद

भीति शुरू में हुई मुझे तो बड़ी बज़ू की, स्नान की ।
जब तक हुई सफेद कि सारी दाढ़ी मुझ नादान की ।

जोड़ जोड़ कर लुटा दिया सब राज और तरखान में ।
और मृत्तिका को यों मैंने पहुँचाया आसमान में ।

औ' तरखान चले जब गढ़ने चंदन के ताबूत को ।
यह बेचारा जिस्म पड़ गया उनकी खींचातान में ।

नीचे मेरे मिट्टी होगी, मिट्टी ही होगी ऊपर ।
मुझे छोड़कर आयेंगे जब गाड़ बीच मैदान में ।

—अनुवाद : शशि शेखर तोषखानी
['कहा था ऋषि नें' से साभार]

कश्मीरी कविता

मैं सोच में खो जाता हूं

प्रो० रहमान राही

तुम अब भूल गई होगी वह प्यारा आलम
चैत्रमास का दिन जाने वह कहां मिला था
ताप-उष्णता में प्रातः से वृद्धि हुई थी
जब था वायु का आंचल मानो किसी ने खींचा
व्यग्र स्वयं पिंजरे की सांकल खोली मैंने
छतों के ऊपर वाष्प नींद से जाग गई थी
अबाबील विद्युत-स्तम्भ पर बैठी गाती
तुम अब भूल गई होगी वह प्यारा आलम।

× × ×

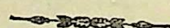
धुले वस्त्र डालने दिखाई दीं तुम ऊपर
धूप की गर्मी में 'फ़िरन' ज्यादा ही लाल था
तुम्हारी आंखों में पढ़ ली मेरे नयनों ने ग़ज़ल
कि ऐसी जिसके मर्म-ज्ञान को उम्र भी कम है
तुम्हारे सीने के अन्दर कंवारा उभार वह
उमगती लहरों बीच हंसिनी का उल्लास है
उंगली मुख में तनिक बांकपन से, भौहों में खम
इशारों में इलहाम होंठ पर मादक मुद्रा-विभ्रम
लगा कि चारों ओर उछलते हिरन स्वप्न के
तुम अब भूल गई होगी वह प्यारा आलम।

× × ×

क्षण क्षण में बदला करता है सरिता का जल
अब तो तुम गृहिणी सागर सी रूप - अचंचल
केन्द्र तुम्हारे भावों का होगा नन्हा मुख
फूले जैसे गुलेलाला आंगन में तुम्हारे
खुदा हिफ़ाजत करे सुहाग की सदा तुम्हारे
युग बीता है, मेरे भी तो बच्चे प्यारे
सुलझाऊं रेशम-धागों में उलझे जीवन-चरण बेचारे
तुम अब भूल गई होगी वह प्यारा आलम

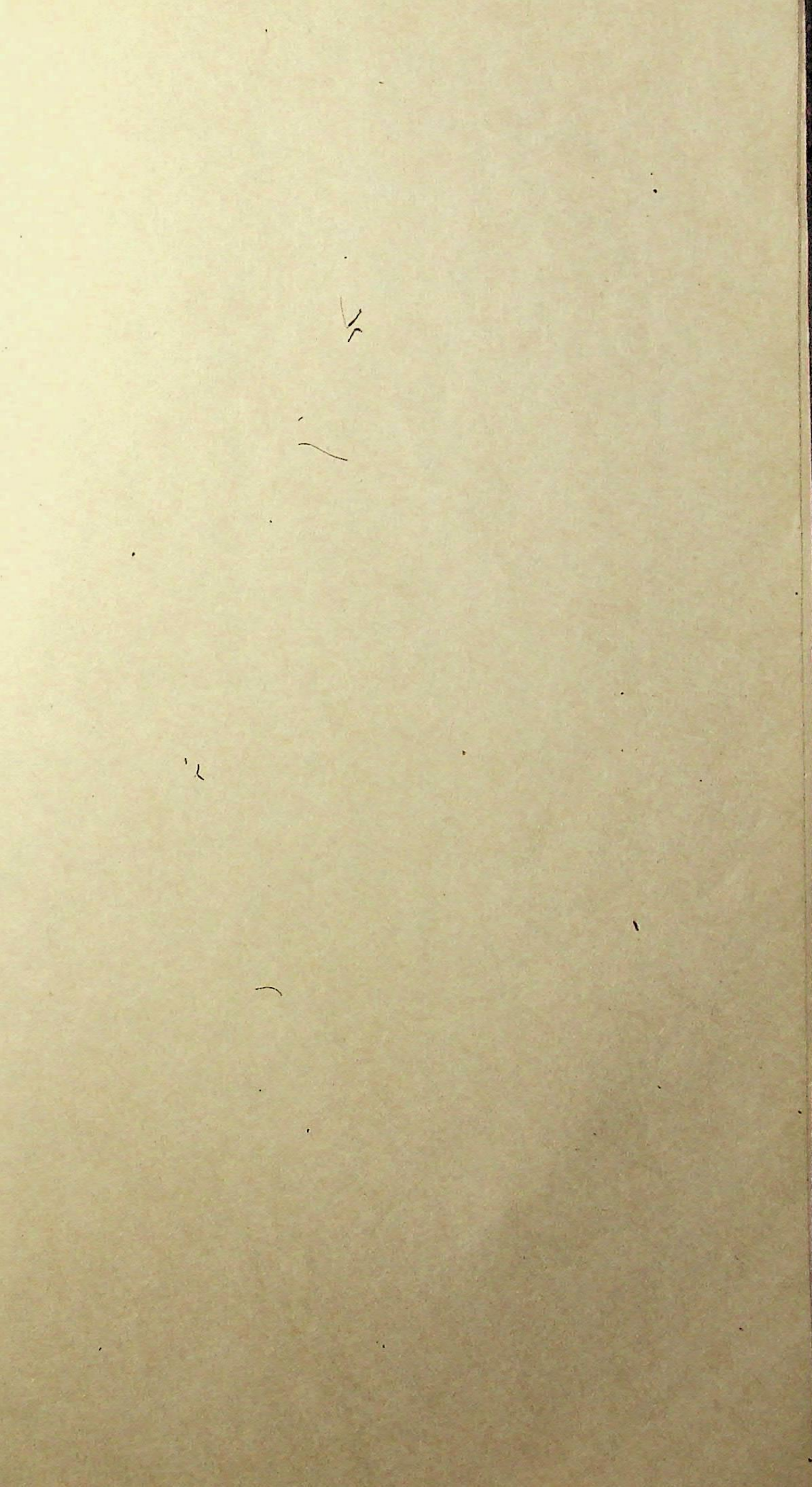
× × ×

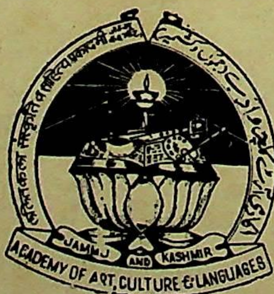
अब तो हृदय कक्ष में केवल कभी कभी बस
करे शरारत शिशु सा कोई पवन का झोंका
जब पिंजरे में गिर जाती है ठण्डी साँकल
सोचा करता याद तुम्हें भी आता होगा
वही चैत्र का धूप-दिवस और छींट का 'फ़िरन'
तुम अब भूल गई होगी वह प्यारा आलम।



—अनुवाद : डॉ० अयूब

['प्रतिनिधि कश्मीरी कविताएं' से साभार]





An Academy Publication J & K Academy
of Art, Culture & Languages